

मूल्य : सात रुपये

© सच्चिदानन्द वा०. आयन

प्रथम संस्करण : १९७१

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०

८, फौज बाजार, दिल्ली-६

मुद्रक : जी० आर० कम्पोजिंग एजेंसी।

शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, नवीन शाहदरा, दि

आवरण : रिफॉर्मा स्टूडियो







हैं, हुआ तो । लेकिन जानने और जानने में अन्तर होता है और इसी-  
लिए पाये हुए उत्तर और दिये जा सकने वाले उत्तर में भेद करना आवश्यक  
ही जाता है ।

वास्तव में इन दो उत्तरों के बीच में जो तनाव रहता है वही मुझे लिखने  
की प्रेरणा देता है । शायद कला मात्र में जो शक्ति सृजन की प्रेरणा बनती  
वह यही तनाव है—जाने हुए उत्तर और दिये जा सकने वाले उत्तर के बीच  
जो तनाव । लेकिन इस तनाव का हल या उसे हल करने का प्रयत्न है ।  
लेखन इस तनाव का हल या उसे हल करने का प्रयत्न है ।  
लेखन यह हल अन्तिम नहीं हो सकता, क्योंकि अगर संवेदन है तो नया  
अनुभव नया तनाव पैदा करता है—ज्ञान के क्षेत्र के विस्तार के साथ जाने हुए  
उत्तर और दिये जा सकने वाले उत्तर के बीच नयी दूरी पैदा हो जाती है ।

इसी से हमें लेखक—अथवा कलाकार मात्र—के लिए चिरयात्री का  
तीक मिलता है । अपने से इतर उस दूसरे की ओर अपनी यात्रा में, वह बीच  
की दूरी को—दूरी को ही, निरन्तर मिटाता चलता है । —उस दूसरे की ओर  
अपनी यात्रा में, जिसमें वह जानता है कि उसकी अपनी प्रतिमूर्ति भी है ।  
यह सहज ज्ञान ही उसे यह आस्था देता है कि उस दूसरे तक पहुँचा जा सकता  
और उससे सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है—कि उससे समालाप सम्भव  
है, कि सम्पर्क की एक भाषा अवश्य है, केवल सही शब्द मिल जायें तो ।

आगन के पार

द्वार खुले

द्वार के पार आगन

भवद के ओर-छोर

सभी मिले—

उन्हीं में कहीं खो गया भवन ।

कौन द्वारी

कौन आगारी, त जाने,

पर द्वार के प्रतिहारी को

भीतर के देवता ने

किन्ना बार-बार पा-लागन ।

(आगन के पार द्वार)

केवल सही शब्द मिल जायें तो ।' लेखक के माने, और उसमें भी अधि-  
क के माने में अनुभव करता हूँ कि यही समस्या की जड़ है । मेरी सोच  
आपकी सोच नहीं है, केवल शब्दों की सोच है । भाषा का उपयोग मैं

करता है, निम्नन्देह, लेकिन कवि के नाते जो मैं कहता हूँ वह भाषा के द्वारा नहीं, केवल शब्दों के द्वारा। मेरे लिए यह भेद महत्त्व रखता है।

भाषा का मैं उपयोग करता हूँ। उपयोग करना है लेखक के नाते, कवि के नाते, और एक साधारण सामाजिक मानव प्राणी के नाते, दूसरे सामाजिक मानव प्राणी में साधारण व्यवहार के लिए। इस प्रकार एक लेखक के नाते मैं कला-मृश्रण के माध्यमों में सबसे अधिक वेध माध्यम का उपयोग करता हूँ—ऐसे माध्यम का जिसको निरन्तर दूषित और मस्कारच्युत किया जाता रहता है। अथवा उसका उपयोग मैं ऐसे ढंग में करना चाहता हूँ कि वह नये प्राणों में दीप्त हो उठे। ऐसा मैं कैसे करता हूँ या कर सकता हूँ? अपना ध्यान शब्द पर—हमेशा शब्द पर—केन्द्रित करके ही।

निम्नन्देह दूसरी कलाएँ भी वेध हैं। इन सभी को व्यापारिक, लौकिक, पापुलर बनाया जा सकता है और निरन्तर बनाया जाता है। लेकिन चित्रकारी किये बिना, गाये बिना, पन्थर या लकड़ी उकेरे बिना भी सामाजिक हुप्पा जा सकता है, बोले बिना सामाजिक नहीं हुप्पा जा सकता। भाषा को ही यह चिन्त्य विशिष्टता प्राप्त है कि उसे निरन्तर और अनिवार्य होततर संस्कार का शिकार बनना पड़ता है।

शाब्द 'हीन' मस्वार का प्रयोग मैं जैसे कर रहा हूँ उसका कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है। भाषा के बारे में कोई झूठा आभिजात्य या म्नावरी मुझमें नहीं है। लेकिन इस बात पर मैं जोर देना चाहता हूँ कि जो विभिन्न प्रविष्टाएँ काम कर रही होती हैं उनमें गुणात्मक भेद होता है। किसी भी कला-माध्यम का जितनी उसकी क्षमता है उससे कम कहने के लिए उपयोग करना उसे घटिया संस्कार देना है, मस्कारघट्ट करना है, उसका बलगरा-इजेन है। कवि का उद्देश्य केवल शब्द की निहित सत्ता का पूरा उपयोग करना नहीं बल्कि उसकी जानी हुई सम्भावनाओं के परे तक उसका विस्तार करना है। जैसे साधारण व्यवहार में किमी नये व्यक्ति से परिचित होने पर हम जब कहते हैं कि हम कृतार्थ हुए अथवा मुग्ध हो गये तो हमारा अभिप्राय कुल इतना ही होता है कि हम आशा करते हैं कि यह नया सम्पर्क सुखद अथवा प्रीतिकर होगा, या कि जब हम जो केवल साधारण रम्य है उसे ममंस्पर्शी अथवा विमुग्धकारी कहते हैं, तब हम इन अर्धगर्भ शब्दों का बहुत ही साधारण अर्थ के सम्प्रेषण के लिए उपयोग करते हैं। दूसरी ओर जिम किमी ने भी अच्छा बाध्य पड़ा है उसने लक्ष्य किया होगा कि कवि शब्दों का न केवल भर-पूर मार्थक प्रयोग करता है बल्कि कभी-कभी शब्दों या वर्णों का उपयोग न

करने ही धर्म की सृष्टि करता है—मानवी शक्तों का ही अर्थगर्भ उपयोग नहीं, अर्थगर्भ भोग का भी उपयोग करता है। मुझे हमेशा लगा है कि यही मानव का धैर्य बताया जा सकता है—त्रिगर्भ न केवल शक्तों के निहित और सम्भाव्य धर्मों का पूरा उपयोग किया जाता है बल्कि उन धर्मों का भी जो कि शक्तों के धीमे के सम्बन्धीन अन्तराल में भरे जा सकते हैं। मैंने जब कहा "केवल यही शक्ति भिन्न जाये तो", उसका यही अर्थ है। यही शक्ति वे ही हैं जो उनके धीमे के अन्तराल का गवने अधिक उपयोग करें—अन्तराल के उग मोन द्वारा भी अर्थव्यवस्था का पूरा ऐश्वर्य सम्प्रेषित कर सकें। इनका ही धर्म, पूर्व की एक परम्परा के उत्तराधिकारी के नाते मैं यहाँ तक कह सकता हूँ कि कविता भाषा में नहीं होती, वह शब्दों में भी नहीं होती; कविता शब्दों के बीच की मोरचिताओं में होती है। और कवि महज बोध से जानता है कि उसमें दूसरे तक पहुँचा जा सकता है, उससे संताप की स्थिति पायी जा सकती है, क्योंकि वह जानता है कि मोन के द्वारा भी सम्प्रेषण हो सकता है।

मुझे तीन दो शब्द

कि मैं कविता कह पाऊँ।

एक शब्द वह :

जो न कभी जिह्वा पर लाऊँ।

और दूसरा :

जिसे कह सकूँ

किन्तु दर्द मेरे से

जो ओछा पड़ना हो।

और तीसरा तरा धातु

पर जिसको पाकर पूछूँ

क्या न बिना इसके भी काम चलेगा ?

और मौन रह जाऊँ।

मुझे तीन दो शब्द

कि मैं कविता कह पाऊँ।

एक समय था जब मैं एक क्रांतिकारी संगठन का सदस्य था और त्रितानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ रहा था; उस युद्ध में मैंने सभी साधनों का

उपयोग किया—शत्रु का भी। पिछले महायुद्ध के समय मैं भारतीय सेना के एक सदस्य के रूप में भारत के सीमान्त पर था ; भारतीय सेना तब अभी ब्रितानी सेना ही थी। उस समय भी मैंने कई साधनों का उपयोग किया जिनमें आन्विकारी जीवन में प्राप्त किये हुए कौशल भी थे। धनमर आया होता तो और भी साधनों का उपयोग मैंने किया होता। आज मैं दिल्ली से एक राजनैतिक समाचार-मासिक का सम्पादन कर रहा हूँ। इनमें से किसी कार्य का भी मुझे अनुसोच या परिताप नहीं है। इनमें से कोई भी बनावार के जीवन का अनिवार्य अंग नहीं है, पर दूसरी ओर इन कामों से और वाक्य-रचना में कोई विरोधाभास भी दीखता है तो मैं अपनी सफाई में निम्नबोध बान्स्टर ह्विटमैन की एक उक्ति का सहारा ले सकता हूँ

मैं अपनी बात का छड़न करता हूँ।

तो ठीक है, मैं अपनी बात का खंडन करता हूँ।

मैं बिराट हूँ। मुझमें विविध सामूह समा जाते हैं।

लेकिन विरोध का बेल आभास है, वह वास्तविक नहीं है। वास्तव में उन सब अनुभवों ने मुझे जो मैं हूँ वह बनाया है और अपनी बात कहने का माहम दिया है—अपनी भूले स्वीकार करने का और अपने विद्वानों को धोषित करने का—यह मानते हुए भी कि वे विश्वास निराधार भी मिद्ध हो सकते हैं और उन्हें बदमना, शोधना या छोड़ भी देना पड़ सकता है। लेखक के नाते मैंने समाज में कोई विशिष्ट स्थान या सहूलियत नहीं चाही है। समाज के एक सदस्य के नाते मैंने स्वतन्त्रता के लिए, सामाजिक न्याय के लिए और मानव-व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए, विशालतर सामान्य उद्देश्यों की सिद्धि के प्रयत्नों के लिए आग्रह करना अपना कर्तव्य समझा है, कवि के नाते मैंने उस कर्तव्य से मुक्ति कभी नहीं चाही। बल्कि इसके प्रति-फल कवि के नाते भी मैंने कुछ मूल्यों पर आग्रह करना आवश्यक समझा है। और इन मूल्यों के लिए अपने प्रयत्नों पर किसी तरह की रोक या नियन्त्रण लगाने का समाज का कोई अधिकार मैं नहीं मानता। ये मूल्य और ये प्रयत्न हैं मेरे कला माध्यम और सभी कला माध्यमों की शुद्धि और सत्कारिता के लिए अनवरत प्रयत्न ; व्यावहारिकता या प्रत्युत्पन्न लाभ से ऊपर स्थायी नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा—(यह मानते हुए कि ज्ञान-क्षेत्र के विस्तार के साथ नैतिक मूल्य अपने-आप परिवर्तित हो सकते हैं), अनुभूति की प्रामाणिकता, सोचने, मानने, अभिव्यक्त करने, वर्ण करने और होने अर्थात् अस्तित्व

रखने की व्यवस्था की व्यवस्था...मनुष्यता (कमिटमेंट) का विचार  
 घोर देशों की भाँति मेरे देश में भी होता रहा है घोर घब भी जारी है।  
 दमकी जायद सभी धारणता भी है क्योंकि सभी धारण बहुत में नांगों को  
 दममें निहित प्रश्नों का स्पष्ट निष्कर्ष करना है। लेकिन जहाँ तक मेरा  
 गवाह है, यद्यपि मैं घब भी हर किसी की धार ध्यान में गुनना हूँ और सभी-  
 सभी विचार में भाग भी लेता हूँ, मुझे लगता है कि अनुभव ने मुझे मरण के  
 सार और धुन में बाहर निवासकर लेगी जगह पहुँचने का मार्ग दिखा दिया  
 है जहाँ मैं मैं पवित्रता को भी देख सकूँ और गाथनों और उपकरणों का प्रयोग  
 सोद्देश्य उपयोग कर सकूँ। लेकिन मैं केवल असम्पृक्त नहीं होता बल्कि उसी  
 सम्पृक्त बोहरी होती है—वह निरन्तर दो मोर्चों पर सड़ता है। यह तो  
 सम्भव है कि वह सभी एक मोर्चे पर और सभी दूसरे मोर्चे पर बल मगह  
 करे ; लेकिन किसी एक मोर्चे को छोड़ देने में वह भारी जॉगिंग उठावेगा।

यात को यों कहने में लग सकता है कि लेकिन की परिस्थिति बड़ी संकट-  
 पूर्ण और अप्रीतिकर है। वास्तव में ऐसा नहीं है। वास्तव में उसकी परिस्थिति  
 अत्यन्त रचिकर और रसमय है। मुझे एक पौराणिक दृष्टान्त याद आता है  
 जिसका समकालीन अर्थ भी है बल्कि जो 'बन्दिस्सो यूमेन' —मानव नियति—  
 का उसके आधुनिक पश्चिमी अस्तित्ववादी निरूपण की अपेक्षा कहीं अधिक  
 सच्चा प्रतिबिम्ब है।

बाध से बचने के लिए एक मनुष्य पेड़ पर चढ़ता है और उसकी दूरतम  
 शाखा तक पहुँच जाता है। उसके बोझ से शाखा झुककर उसे एक अर्थ  
 कुएँ में लटका देती है। ऊपर दो चूहे शाखा को काट रहे हैं, नीचे कुएँ में  
 अनेक साँप फुफकारते हुए उसके गिरने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस अत्यन्त  
 सकटापन्न परिस्थिति में वह देखता है कि कुएँ की जगह से घास की एक पत्ती  
 उसकी ओर झुकी हुई है और उसकी नोक पर मधु की एक बूंद काँप रही है।  
 वह जीभ बढ़ाकर मधु चाट लेता है—और कितना सुस्वादु है वह मधु "

कितना सुस्वादु, अनिवर्चनीय स्वादिष्ट मधु...हम सभी ने, प्रत्येक ने  
 अपने अलग ढंग से उस मधु का स्वाद जाना है जो कि हमारा जीवन है।  
 लेकिन मैं समझता हूँ कि जिन्होंने मधु के साथ-साथ अपनी अवस्थिति का भी  
 आस्वादन किया है, उन्होंने अस्तित्व का गम्भीरतर अनुभव प्राप्त किया है,  
 क्योंकि उनके लिए अवस्थिति का स्वाद भी मधु के स्वाद का एक अंग बन  
 गया है। और उनके लिए मधु के प्रति सम्पृक्त में अवस्थिति के साथ  
 सम्पृक्त (कमिटमेंट) भी अनिवार्यतया निहित है। और दृष्टान्त का सार

तो यही है कि यह (अग्नि-व्यवस्था मुद्दामे की) 'चरम परिस्थिति' कोई ऐसी चरम परिस्थिति नहीं है, क्योंकि वह सार्वभौमिक है, माध्यामिक है। महत्त्व की बात इसके प्रति खेद होना ही है : पहुँचाने होने ही व्यक्ति की अवस्थिति व्यापक सार्वभौमिक अवस्थिति में एकात्म हो जाती है और हमारी तात्कालिक विन्ताएँ उस एक चरम चिन्तन में परिणत हो जाती हैं जो कि आधुनिक व्यक्ति के लिए आस्था, विश्वास, धर्म या उसे और जो कुछ भी नाम दे दें उसका पर्याय है—वह ठोस आधारशिला जिस पर वह मूल्यों की इमारत खड़ी करता है—इस आशा के साथ ही कि वे टिकाऊ सिद्ध होंगे।

भीड़ों में

जब-जब जिस-जिसमें धर्म मिलती हैं

वह महमा दिस जाता है

मानव :

अगर-मा—भगवान्-सा

अवेला ।

और हमारे सारे सोचाचार

राज की युगो-युगो की परते हैं ।

---

बेधोपाद (बेलग्रेड) रेडियो से जून, १९६६ में प्रसारित वक्तव्य । मूल हिन्दी वक्तव्य के कुछ अंश और कविता के उद्धरण लेखक के स्वर में प्रसारित किये गये थे, पूरे वक्तव्य का मृत्की-ह्यावात्सी (सर्वो-ओरिएन्टल) अनुवाद पढ़ा गया था ।

## लेखक और परिवेश

परिवेश की समस्या को कई तरह से देखा जा सकता है। मैं लेखक की दृष्टि से ही देखना चाहता हूँ। मानो सबसे पहले अपने को ही यह चेतावनी दे देना जरूरी है कि मैं लेखक हूँ। लेखक हूँ, इसलिए परिवेश की समस्या मेरे लिए लेखक की समस्या है। मैंने बार-बार देखा और सुना है कि लेखक भी जब इस समस्या पर विचार करते हैं तो मानो यह बुनियादी बात भूल जाते हैं।

यह नहीं कि दार्शनिक या अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री या नृत्यत्वज्ञ या इतिहासवेत्ता के पाए हुए या पेश किए हुए जवाब मेरे काम के नहीं हैं। जरूर काम के हैं। लेकिन बात यह है कि उनके पाए या सुझाए हुए जवाबों में से मेरा जो कुछ लाभ हो सकता है, उसका उपयोग जब मैं कर चुकता हूँ तब जो समस्या बचती है वही मेरी समस्या है : मुझ लेखक की असल समस्या !

और बात दोहराना लेखक की दृष्टि से शब्द-शक्ति का अपव्यय है। उनकी यात्राएँ मैं क्यों दोहराऊँ जबकि वे सब मिलकर एक मजिल तक मुझे पहुँचा गये हैं और वही से मेरी अपनी यात्रा प्रारम्भ होती है ?

उनकी कृपा से (या उनके परिश्रम से) मुझको यह सुविधा मिली है कि मैं बहुत सी बातें मानकर चल सकूँ—जिसे स्वयंमिद कह सकते हैं, उसे मिद कहने का परिश्रम न करें।

परिवेश बदलता है, और उसके साथ मूल्य बदलते हैं, यह मैं दिया कृपा मानकर चलता हूँ, इसका उदाहरण या इसका प्रमाण आवश्यक मानता हूँ।

परिवेश—जो मेरे सामना है—वह केवल बाप नहीं है, जगता होता



है। उनके यज्ञों का, उनकी दिग्विजय-यात्राओं का ही यह परिणाम है। आज सवेदना-जगत् में एक प्रकार का चक्रवर्तित्व में भोग सकता हूँ। भू पर यह भी बोझ है कि इस अपने पाये हुए जगत् का मैं और विस्तार करूँ, और अगर मैं अच्छा लेखक हूँगा तो अवश्य यह कहूँगा—या बात को लटकर कहूँ कि अगर और जिस हद तक मैं ऐसा करूँगा तभी और उसी हद तक मैं अच्छा लेखक हूँगा।

लेकिन आभार-स्वीकार के बाद भी यह बात तो सच रह ही जाती कि प्राचीन लेखक का ससार मेरे समार से इस अर्थ में छोटा था कि वह एक स्थितिशील परिवेश में रहता था। उसका संसार सीमित था। अब-तब उस ससार में वृद्धि होती थी—नये देश, प्रदेश उसमें जोड़े जाते थे, लेकिन यज्ञानुष्ठानपूर्वक उनके जोड़ लिये जाने तक वे ससार से बाहर ही रहते थे—यानी परिवेश ज्यों का त्यो रहता था। अनुष्ठान द्वारा नयी भूमि को अपने ससार में प्रतिष्ठित कर लेने पर एक नया, अपेक्षया बड़ा आयाम और सम्बन्धों की दृष्टि से कुछ बदला हुआ संसार-परिवेश मिल जाता था, लेकिन यह केवल एक नयी स्थिति होती थी; परिवेश की स्थिति-शीलता में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता था। और यह बात देश के विस्तार के बारे में जितनी सच थी, काल के नियन्त्रण के बारे में भी उतनी ही सच थी। क्योंकि काल भी यज्ञ के द्वारा अपने स्थान पर प्रतिष्ठित किया जाता था। कितनी सुखद, सहज और सीमित थी वह स्थिति, जिसमें यज्ञ के द्वारा काल को अपनी घुरी पर फिर से स्थापित कर दिया जा सकता था। हैम-जेंट में कहा था - टाइम इज आउट आफ जॉएंट। हम इस अवित के त्रास का सामना कर सकते हैं, लेकिन वैदिक ऋषि के लिए वह निरर्थक या निरर्थकप्राय थी—निरर्थकप्राय इसलिए कि उसकी चूल उखड़ भी गई होती तो यज्ञ के द्वारा काल को फिर ठीक ठिकाने प्रतिष्ठित कर दिया जा सकता था—उसमें परिवर्तन की बात क्या थी?

मैंने राम्बूक की कथा पढ़ी है। मैं उसे कभी उस अर्थ में नहीं ग्रहण कर पाया जिसे अर्थ में मुझे समझाई जाती रही है। राम्बूक बेशर्षपण कर रहा था या कि यज्ञ करने जा रहा था, वर्णान्तर कर्म का यह छोटा-सा अपराध कदापि उम दण्ड का भागी नहीं था जो उसे मिला। इतना ही क्यों, यह प्रश्न कोई क्यों नहीं पूछता कि सूत्र की तात्पर्या में इतना बन था कि ब्राह्मण का कोई कर्म नहीं पूछता कि सूत्र की तात्पर्या में इतना बन था कि ब्राह्मण का देश मर जाये, तो ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व का क्या बन्नी बना गया था? क्या उसकी सीमा बड़ी थी कि राजा के सामने जाकर खिरिया से? क्यों नहीं राम



यहाँ पश्चिम के विज्ञान का नाम लेना जरूरी नहीं है—या कि विज्ञान के नाम के साथ पश्चिमी का विशेषण जोड़ना जरूरी नहीं है—लेकिन सुविधा के लिए उसे पश्चिमी विज्ञान कहते हुए माना जाए कि आधुनिक दुनिया को इतना बड़ा कर देने में और इस प्रकार मेरी समस्या कठिनतर बना देने में उसका महत्वपूर्ण योग है। यह योग ज्ञान की परिधि के विस्तार में ही नहीं है, ज्ञान के स्वभाव में भी है, विकासवाद के सिद्धान्त ने जीव-जातियों के विकास की बात से आरम्भ करके केवल प्राणियों को ही नहीं, हर चीज को सापेक्षा के एक क्रम में रख दिया है। जीव को, मन को, नैतिकता को, मूल्यों को, मयार्थ को। जो कुछ भी हमारे ज्ञान की पकड़ में आ सकता है या आता है सब बदल रहा है।

लेकिन लेखक के नाते मेरे लिए बात यहाँ आकर भी खत्म नहीं होती। प्राचीन काल के लेखक की उलझन एक स्थिर परिवेश को लेकर थी, मेरी समस्या यह है कि मेरी चेतना एक अनुपलब्ध बदलते हुए परिवेश से उलझ रही है। (कहना न होगा कि यह स्थिरता और यह बदलना, और यह चेतना भी अब न केवल सापेक्ष है बल्कि ये जाने हुए सापेक्ष हैं) पर मेरी एक अतिरिक्त समस्या भी है।

वह यह कि अपनी उलझन के दौरान एक ऐसे स्थल पर पहुँच जाता हूँ जहाँ मैं भी अपना परिवेश हो जाता हूँ।

मैं जो भाज लिखता हूँ वह छपकर लोगों में बँट जाता है। कभी ऐसा भी होता है कि भाज ही तीसरे पहर लिखता हूँ और शाम को वह रेडियो द्वारा प्रसारित हो जाता है। स्वयं मेरे साथ कम-से-कम एक बार ऐसा भी हुआ है कि मेरा अपनापन उपाय ही छपकर कई लोगों तक पहुँच गया है और अपनापन लिखने में पढ़ने उनके टीका-टिप्पणी और उनके गुभाव भी मुझ तक पहुँच गए हैं—ऐसे लोगों के जो प्रतिष्ठित लेखक और समालोचक हैं और जिनकी राय का मैं खूब सम्मान करता हूँ। और वह तो आश्चर्य होता है कि लोग पढ़ते-लिखते हुए के आकार पर आगे विचार करने के बारे में अनुमान करते हैं, धारणाएँ बनाते हैं, धारणाएँ और तर्काते करते हैं और अविश्वस्य लेखन पर फैसले दे देते हैं। भाज का हर लेखक इस स्थिति में परिचित होगा जिसमें उसका होने का भाव उसका भाव के या आभासी भाव के संकेत पर जारी हो रहा है, दुर्भाग्यवश मेरे विद्वत् बलिगमयनी कवि को एक एक एक ऐसा अनुभव हुआ हो तो हुआ हो, लेखक की आशाएँ सच होना का भय पड़ करभी नहीं रहता होगा कि लेखक की निराशा जहाँ भी मुँह धरते हो वहाँ को अपनी पीठ पर लादे अपना कागज का



भगर मनुष्य ऐसी कोई जगह है—और मैंने कहा कि ठीक ऐसी ही जगह हम गढ़े हैं, जो रहे हैं, जीने की जाने की बाध्य है, तो इस जगह सभी कुछ परिवेग है—हम भी, मृत्यु भी। यही सभी परिवेग है—परिवेग ही परिवेग है।

यही अस्मिता का संकट है। यह जिसे गाँधीजी लेखक अपनी हिन्दी में साइटेडिटी का वादित्त मरुता है।

निस्सन्देह इस संकट का बोध सबको एक-सा नहीं है, हो नहीं सकता। और क्यों हो? निस्सन्देह जिनको संकट का जितना भी बोध है उन सबकी प्रतिक्रिया भी एकसी नहीं है। क्यों हो? पर इतना शायद निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इस संकटप्रस्त अस्मिता का बोध सब आधुनिकों को है। भूति और अस्ति का अस्तित्ववादी (एग्जिस्टेंशियलिस्ट) पचड़ा उठाने की जरूरत नहीं है क्योंकि मैं लेखक के नाते ही बात कर रहा हूँ। और लेखक के लिए भूति और अस्ति के सूक्ष्म पारिभाषिक भेद में पड़े बिना भी संकटप्रस्त अस्मिता की बात की जा सकती है जिसका बोध हर आधुनिक को है।

क्योंकि बोध के स्तर या विस्तार है और प्रतिक्रियाओं की मात्राएँ या प्रकार हैं, इसलिए बहुत-सी विवृतियाँ भी देखने में आती हैं। उनके दर्शनों में बन गये हैं। अस्मिता के संकट की अनेक प्रतिक्रियाएँ आज के आलोचना-साहित्य में (या कि अभी उसे आलोचना-पत्रकारिता ही कहा जाये, ) दीखती हैं, और प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओं में, कुछ पुस्तकाकार भी, छपे हुए कृति-साहित्य में देखी जा सकती है—विशेषरूप से कविता और कहानी में जो कि, सुनते हैं, इधर के साहित्य की सबसे समर्थ विधाएँ हैं—अव्वल नम्बर पर कहानी, दोसम पर कविता।

अस्मिता के संकट में नकार की अनेक मुद्राओं को भी प्रेरित किया है। नकार एक तो वह है, जो पहचानकर मानता है कि जब मैं और मूल्य दोनों परिवेश ही हो गये तब न मैं रहा और न मूल्य रहे। एक दूसरा नकार है जो इस नगण्य कर दिए जाने के विरोध की चीख है। एक इतर अस्मिता या दूसरे स्तर के लिए मूल्य का आग्रह है।

भय, मन्त्रास, भजनवीपन, 'ड्रेड,' 'एलिनिएसन,' मतली—एकाएक बहुत से शब्द हमारी आलोचना और हमारे साहित्य में आ गये हैं, कुछ मूल विदेशी भाषा में और कुछ देशी पर्याय-रूप में, लेकिन पर्याय की खोज में निरंतर



साहित्य दिकेगा। जो निराला पत्रिकाकार है, जिनमें मात्र के भर, मान, सजनवीरन, मानी घाई का भस्मूर या पाटन मयवा गुरोरा पर पों, हो गयता है कि यंग साहित्य मात्र की स्थिति के धार्याद का धामाग कति दे। पर रास्ते की पाठ भी स्थिति का एक धम्याम तय है; इस तय को जेसा नहीं की जा गयनी धोर जिन साहित्य में मात्र के धार्याद के दूरे का रग है, लेकिन इस पाह धीर गहमान का धार्याद नहीं भिगता, वह उन ह तक स्थिति का धभूर ही सधरेण कर रहा है; धार्याद का जो धामाग है उगमें थोडा थोडा भी, धामाग भी है, तय की उतनी नमी है।

न सही राजमार्ग; धीहड़ रास्ते सही, गगड्डियाँ सही, राबके धसग-धन धोर-रास्ते भी सही। लेकिन समस्या धगर यह है कि धस्मिता का सकट है तो सधय भी स्पष्ट है! कि सकट का निवारण करके धस्मिता को रसा की जे धस्ति-धोध फिर से प्रतिष्ठित किया जाये। धोर जब ये दो बिन्दु निश्चि तो कुछ तो सकेत होना चाहिए कि रास्ते क्या धोर कैसे है या हो सकते हैं।

एक रास्ता तो सीधा है। यह कर्म का—एकान का—रास्ता है। लेकिन यह जरूरत से ज्यादा सीधा रास्ता है। कर्म के द्वारा धस्मिता की उपलब्धि कर्म में धस्ति की पहचान (निरसदेह यह एक प्रकार का कर्मयोग है, धाधुनि कर्मयोग, धोर उराफा भी यह रूप जिते पश्चिम धासानी में पहण करेगा), रास् तो है, पर यह साहित्य-कर्म से धलग ले जाने वाला रास्ता है—यानी इस में साहित्य-लेखन 'कर्म' नहीं है।

दूसरा साहित्य से कम हटता हुआ रास्ता यह है जिसके लिए धधर धट से नाम चल रहे हैं। कुछ धंधेजी-कासीसी में, कुछ उन्ही के धंग के, कुछ उन धनुवाद, धोर कुछ ऐसे भी धनुवाद जो कि वास्तव में मूल राध के धधं प्रत्याख्यान करते हैं। लेकिन धध एक विशेष धध में चला दिए हैं तो चलते मा लिए गये हैं। कमिटमेंट, एगेजमेंट, इन्वाल्वमेंट, प्रतिबद्धता, निष्ठा, ध्यस्ति की लोज, ईमानदारी...

धधय ही कुछ साहित्यकारों ने पहला रास्ता धपनाया। उसके बाद बितने ग साधक रहे कि फिर भी उन्हे साहित्यकार गिता जाये, दस पर धहस हो सकती (ही, 'भूतपूर्व' साहित्यकारों का एक धर्ग हो तो उसमें उन्हे जरूर रगा

होगी। (यों शायद मुझे यह भी बह ही देना चाहिए कि चुनौती को भी मैं केवल विनयवश ही करने तक सीमित रख रहा हूँ, यह कैसे हो सकता है कि वह चुनौती पाठक को भी न हो जबकि वह भी उसी समार में रहना है, और जबकि लेखक के नाने मेरा अविराम प्रयत्न यह है कि मेरा और मेरे पाठक का संसार एक हो और जिस-जिस दशा या भ्रामा में दोनों एक न हो वहाँ विस्तार द्वारा उन्हें एक कर दिया जाए—उतना और बँसा एक ज़िमके लिए ज्यामिति की भाषा में कहा जाता है कांफ़्रुएंट इन प्रॉल रेस्पेक्ट्स।

नये लेखक और पुराने लेखक में—प्राचीन काल के लेखक और समकालीन लेखक में, भेद स्पष्ट करते हुए मैं भूल गया था कि आज भी कुछ नये लेखक हैं जो पुराने हैं जैसे कि प्राचीन काल में कुछ लेखक रहे होंगे जो नये लगें। आज भी कुछ ऐसे लेखक हैं जो अभी सदर्भ में जीते हैं। परिवेश की उनकी सकल्पना उसी अर्थ में स्थितिशील है। उनमें से कुछ प्रगति में भी विश्वास करते हैं लेकिन प्रगति भी उनके लिए एक प्रक्रिया नहीं, स्थितियों का एक क्रम है—एक स्थिति में दूसरी स्थिति में अवतरित (या कि जब प्रत्यक्ष पर उनकी ओर से सम्भाव्य आपत्ति का विचार करके वह उत्तरित) होने का क्रम। ऐसे भी हैं जो प्राचीन काल के सन्दर्भ को पूरी तरह आत्मसात् करते हुए सनातन यज्ञ करते हुए तो नहीं जी सकते, लेकिन मान लेते हैं कि आज भी वेदों की याद-भर से ऋतु को फिर प्रतिष्ठित कर लेंगे। वेद मेरे लिए अत्यन्त मूल्यवान् हैं, चर्कि जो हैं उनके लिए मूल्यवान् शब्द कुछ छोटा ही पड़ता है। उन्हें थोड़ा-थोड़ा करके पड़ता भी है और जब तक एक-एक शब्द में एकाएक ऐसा नया अर्थ मिस्रता जान पड़ता है (मेरे लिए नया, सम्भव है कि वास्तव में वह बहुत पुराना अर्थ था या बहुत ही पुराने अर्थों में से एक रहा हो), जिसे उन्मेष, नई दृष्टि भी कहा जा सकता है और जिसके सहारे पुराना पड़ा हुआ बहुत-सा एकाएक निरा पड़ा हुआ न रहकर जाना हुआ हो जाता है—जिरी जानकारी का एक समूह बिछा हो जाती है। और ऋतु की परिवर्तना को मैं धर्म-प्रतिभा की महान् उपनयियों में मानता हूँ। 'क्या मैं ऋतु में जीता हूँ?' यह प्रश्न करने में पूछना ही, पूछ ग़लत की स्थिति में अल्पनाम क्षण के लिए होना भी, भीतर-बाहर से धुन जाने के बराबर लगता है—आस्तिक के लिए गदा-मनन में अधिक पावनकर।

आधुनिक स्थिति की पहचान होते ही वह इस सकट को भांप लेगा और पहचान लेगा कि यह दूसरो का ही नहीं, उसका भी सकट है; भले ही कुछ दूसरो के सिर पर सवार हो और खुद उसके सिर पर सवार न भी हो तो कंबी न्या-कर उसे पटकी देने की तैयारी कर रहा हो।

और यह मैंने कहा तो नहीं, लेकिन देखने की कोशिश की, कि इस तरह का सामना करने का क्या रास्ता हो सकता है। या कि क्या-क्या रास्ते हो सकते हैं जिनमें से कौन-सा रास्ता जायद अच्छा है—या कि लेखक के नाते सबसे अधिक अनुसरणीय है।

यह सन्दर्भ है जिसमें लेखक के नाते में जीता हूँ या कि जिसमें अपने को जीता हुआ पहचानता हूँ। मैंने कहा कि मेरा परिवेश बहुत बड़ा है। यह बात आपेक्षिक रूप से भी सच है और आख्यात्मक रूप से भी। मेरा परिवेश प्राचीन लेखक के परिवेश की तुलना में भी बहुत बड़ा और अपने-आपमें भी बहुत बड़ा है। उसमें एटमबम है और भूदान है; ई० ई० सी० है और नाटो है, पी० एन० ४८० है और बीएतनाम है, 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' है और नापू-सा है, काचिका चेकला और तिम्मा रेड्डी हैं और लूनिक और यूरी गगारिन हैं, क्रो-एनियाई एकता और कागो और मगोला हैं, भारत का स्वाधीन राष्ट्र है और पीलू मोदी हैं, हाइपोथालामस ग्रन्थि है और शतदल पद्म है—सभी कुछ है। जो बहुत से लोगों के लिए 'था' हो गया है, वह भी है, जो बहुत से लोगों के लिए 'होगा' की कोटि का है वह भी है, और जो है वह तो है ही और निरन्तर फैलता जा रहा है जैसे कि यह विश्व बहारांड भी फैलता जा रहा है।

मेरा परिवेश जितना बड़ा है और बड़ा होता जाता है, उतना ही मैं छोटा और छोटा होता जाता हूँ, यह तो डीक ही है। बल्कि इसे तो स्वयंग्रिड मान लिया जा सकता है। पर सम्बर्ध के नाते यह जितना बड़ा है या होता जाता है, उतना मेरा गवेदन भी विस्तृत और गहरा होता जाता है, और उतना ही मेरा सम्प्रेषण भी विस्तारित और गम्भीरतर होता जाता है।

यह गवेदन का विस्तार, यह सम्प्रेषण की गंभीरता, मेरे संगत-कर्म की चुनौती भी है, मेरी उसकी सम्भाव्य उपस्थिति भी है। चुनौती के रूप में ही है, उम्मा सामना मुझको ही करना है। मेरे इन उपस्थिति पर उम्मा सामना मेरी नहीं है, मेरे उम्मा के नाते सामना भी है। यानी घण्टा में ही होनी भी सामना भी

मैं। इतिहास ही क्यों करें। सुना करें कि हम समाजवादी थे, सामान्य मनुष्यों के होने से हीन क्यों बनते थे।

न, 'कहा था' पर मैं उदासी नहीं लेती हूँ। वह सच ही होता है—'कहा था' ही है। मैंने देखा था कि वह मैं नहीं कह सकता, मैं जानता ही नहीं कि ऐसा मैंने कहा था। कहने का कभी मर्यादा ही मुझे नहीं हुआ। लेकिन जो सच है वह मेरे सामने है। उसे मैं न छिपाना चाहता हूँ न छिपा सकता हूँ। वह जो भी मेरे इस चरित्र का प्रकाश सच है जो मुझे सम्मिलित देता है और ही, जो मुझे अपनी प्रतिष्ठा का बोध देता है।

और वह सच यह है, कि वह मैं हूँ, वे मेरी भूमिका हूँ भुजाएँ हैं, और यह सच ही उस जगह हुआ मूर्त है।

उस सच है। इस सच के साथ मैं अपने राग-मद्वन्द्व में बंधा हुआ हूँ। इतिहास वह सच ही नहीं, वह सच है, वह वास्तविकता है।

यह सम्बन्ध—वास्तविकता का और मेरा यह सम्बन्ध—सम्बन्ध का वह रूप जो मेरी चेतना को छूता है, भवभोरता है, भुलगाता है—यह सम्बन्ध हमारा परिचय है।

हम दोनों एक-दूसरे के सम्मिलित हैं, भुलगाता हुआ मैं और जलता हुआ यह मूर्त। इसी निरन्तर भुलगने जाने में मेरी मूल्यों की शोच जारी है। मैंने ऐसा पाया है वह मैं नहीं कहूँगा, हीरो बनने की सलक मुझमें नहीं है और वह पन्नाह मुझे एक भूट के चक्कर में फँसा देगा वह भी मैं जानता हूँ। लेकिन वह ऐसा है और ऐसा रहेगा—यह मेरा भुलसना और मूर्त का तपना और यह मेरी मूल्य की शोच।

जो स्वयंसिद्ध है उसको सिद्ध करने की मैंने कोई जरूरत नहीं समझी। लेकिन जो स्वयंसिद्ध नहीं है उसे सिद्ध करने का मेरे पास क्या साधन है ?

जो मैं पहचानता हूँ वह मैं पहचानता हूँ।

भाष्य महाविद्यालय, उज्जैन में दिए गए एक प्रत्युत्पन्न वक्तव्य का विकसित लिखित रूप।

यह सच है; लेकिन उस प्राचीन काल के लेंबुक का भोला विद्वान मुझमें नहीं है, नहीं हो सकता, मैं नहीं मानूंगा कि हो सकता है, मैं जरूरी नहीं समझता कि हो; मैं चाहता भी नहीं कि कोशिश करूं कि वह फिर से मुझे मिल जाए। अपने सांस्कृतिक दाय का मैं सम्मान करता हूँ, लेकिन अपनी मूल्यवान् सम्पत्ति के साथ तिजोरी में स्वयं बन्द हो जाना न बुद्धि का मार्ग है न जीवन का।

श्रद्धा की उपलब्धियों का सैकड़ों-हजारों वर्ष का संस्कार मुझमें जीता है लेकिन मैं आज के विज्ञान में जीता हूँ। मेरा सन्दर्भ प्राधुनिक विज्ञान का जगत् है, अनातन श्रद्धा का सन्दर्भ मैं—यह आज का तनावजीवी मैं।

ऐसे भी हैं जो कह सकते हैं, कहते हैं कि परिवेश की बात छोड़ो, परिवेश तो दिन-दिन बदलता है, क्षण-क्षण बदलता है, जो ऐसा बदलने वाला है उसकी बात क्या करना? परिवेश की चर्चा छोड़ें, जो स्थायी है उसी की बात करें। मूल्य की बात करें। बल्कि मूल्यों में भी शाश्वत मूल्य की बात करें, साहित्य का मूल्य है रसवत्ता।

हाँ, है। ऐसे लोग भी हैं, उनके बारे में क्या कहें? भाग्यवान् है वे!

भाग्यवान् है वे, लेकिन किस अर्थ में भाग्यवान्? बोदलेयर ने कहा था:

भाग्यवान् है वेसयामो के प्रेमी

भाग्यवान् और प्रसन्न और तृप्त

किन्तु मैं—मेरी भुजाएँ टूट गई हैं क्योंकि मैंने उनके घेरे में प्रकाश को बाँध लेना चाहा था।

‘बाँध लेना चाहा था।’ मैं जानता हूँ कि इकारस की यह कल्पना रोमांटिक है। इकारस का मिथक अति प्राचीन है लेकिन बोदलेयर उसे जिस रूप में देव रहा है, इकारस पर जिन भावनाओं का आरोप कर रहा है वे रोमांटिक हैं। अपने को मर्माहत महाकाशी के रूप में देना अपने को हीरो मानना है, भले ही परास्त हीरो। यह भी रोमांटिक अन्दाज है। जबकि जिग मुग में मैं जीता हूँ वह एंटी-हीरो है। (या तो एंटी बहुत-कुछ है, लेकिन और बहुत से एंटीव सतही सट्रिवो जैसे भी हैं, एंटी-हीरो तो नीचे का प्रवाह है—ज्वार का भराव है। लेकिन यह अन्दाज रोमांटिक अन्दाज क्या जिग अन्दाज में है? तभी न, जब हर ‘बाधा था’ पर बन दें मानी महाकाशी होने की बात स्वीकार

क्यों ? और इसी देश में क्यों, जबकि हममें ही कवि को मनीषी माना गया और इसी देश में स्रष्टा को कवि कहा गया ? कमोबेश और देशों में भी ऐसा होगा; लेकिन हम देश में यह बात अधिक सच है।

आज का भारतीय लेखक जब पाठक के सम्मुख कुछ कहने खड़ा होता है तो नहीं जानता कि क्या और कितना मानकर वह चल सकता है। वह नहीं जानता कि उसके थोटा क्या पढ़ते रहे हैं, क्या-क्या पढ़ चुके हैं, क्या पढ़ते हैं। अनुमान भी करने चले, तो शायद उसके लिए इसी अनुमान में कम जोखिम होगा कि लेखक का लिखा हुआ तो उन्होंने नहीं पढ़ा होगा, नहीं पढ़ते हैं, कि लेखक की भाषा में या अन्य भारतीय भाषाओं में लिखा हुआ भी अगर कुछ पढ़ा भी होगा तो थोड़ा ही, पढ़ते होंगे तो कभी-कदाचित् ही।

यानी भारतीय लेखक भारतीय पाठक के सम्मुख बोलने खड़ा होगा तो अधिकतर अजनबी की स्थिति में क्योंकि भारतीय पाठक पाठक तो है, लेकिन भारतीय लेखक का पाठक नहीं है, मुख्यतया विदेशी साहित्य का पाठक है, भले ही अनुवाद के माध्यम में। और जितना ही श्रोता-समाज 'अच्छा', 'ऊँचा', 'मुगठिन', 'समृद्ध' और अधीन है, उतनी ही उसकी विदेशी साहित्य के परिचय की सम्भावना बढ़ती जाती है, और भारतीय साहित्य में परिचय की सम्भावना घटती जाती है। आजादी के बीस वर्षों ने इस स्थिति को सुधारा नहीं है बल्कि शायद और विषम ही किया है। राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली में तो यह बिल्कुल सम्भव है कि छाप हजार पड़े-लिसे व्यक्तियों की सभा में बोलने जायें और सभा में एक भी व्यक्ति ऐसा न हो जिसने पिछले एक वर्ष में एक भी भारतीय भाषा की एक भी पुस्तक पढ़ी हो।

और जैसे यह समस्या श्रोता वर्ग की शिक्षा के स्तर के साथ-साथ बढ़ती जाती है, ठीक वैसे ही लेखक की सम्प्रेयता के साथ भी विषमतर होती जाती है। ऐसे 'सफल' और 'लोकप्रिय' लेखक हैं, जिनकी पुस्तकें सूझ छान्नी हैं और बुरा दिवनी हैं, और सब दिवनी हैं तो मानना चाहिए कि सूझ पड़ी भी जाती है। इन लेखकों के बारे में कहा जा सकता है कि वे अवश्य जानते हैं कि उनका पाठक कौन है। आप चाहें तो हम बात को यो भी बट सकते हैं कि वे अपना पाठक चुनने की स्थिति में हैं, बल्कि उन्होंने अपना पाठक-समाज चुन लिया है और उस समाज के साथ वे नियंत्रित सत्ताप की स्थिति में हैं। लेकिन इसे निराशावाद में न समझा जाए, अगर मैं कहूँ कि साहित्य-वर्षा में जब हम लेखक की बात करने हैं तो हम वर्ग के लेखक की बात नहीं सोचते। उनकी और उनकी कृतियों की, या समाज के लिए उनकी उपयोगिता और आवश्यकता की उल्लेख किए बिना

## लेखक की स्थिति

कवि को स्वयम्भू माननेवाले दूसरे लोग तो क्या, कवि भी अब नहीं रहे; लेकिन 'कविमंजीरी' की पुरानी धारणा से आक्रान्त लोग अभी तक साहित्यकारों को अपनी रचनाएँ गुमाने के लिए नहीं, भाषण देने के लिए बुलाते रहने हैं। यों तो भाषण देने का सादे निग्यानवे प्रतिशत वाम राजनीतिकों ने ले लिया है जिसमें साहित्यकार की मुसीबत बहुत-कुछ टल गई है—जनता को मुसीबत की बात अलग है ! फिर भी आपे प्रतिशत में ही सही, साहित्यकार के सामने ऐसे अवसर आते ही रहते हैं जब उसे इस संकट का सामना करना पड़ता है। मार-मारकर हकीम नहीं, मनीषी बनाया जाकर वह इस प्रत्याशा के सामने खड़ा कर दिया जाता है कि सभा में वह मनीषा के कुछ मोती जरूर बरसाएगा।

अगर यह निरा भोलापन है तो इतना भोला मैं हूँ, और अगर यह निग सस्कारगत पूर्वग्रह है तो इतना पूर्वग्रही भी हूँ कि मानता रहूँ, कभी-कभी लेखक के मुँह से ऐसी बात सुनने को मिल सकती है जिसको ज्ञान का मोती कहना असंगत न हो—जिससे श्रोता की मानम-गुहा में एकाएक जैसे आतोक छा जाए जैसा कालिदास के अनुसार कभी अतैलपूर दीपों से हिमालय की कन्द-राशियों को मुरझा बना जाया करता था ! लेकिन इस भोले विद्वत्ता के वाक्जुद यह भी मैं मानता हूँ—और प्रत्येक साक्षात्कार पर अधिक अनुभव करता हूँ—कि श्रोता-श्रवता के परस्पर सम्बन्ध में यह सम्भावना प्रतिदिन कम से कमतर होती जा रही है कि साहित्यकार में ऐसा कुछ मिलेगा। श्रोता-श्रवता ही क्यों, लेखक-पाठक की स्थिति में भी इसकी सम्भावना इस देश में दिन-ब-दिन कम होती जा रही है। मैंने कहा कि इस देश में : पूछना पड़ता है कि इस देश में

हिन्दी ही लिखना, सब देना जैसे ।" ऐसा सोचने-माने करने है ? (1)।  
 दूसरी समस्या करने की उम्मीद नहीं है, मान लिया जा सकता है कि सभी  
 का कि अनुवाद मिल गया जा सकते हैं, जैसे कि मुन्नी के काने बाज नहीं  
 जाने, छोटे ही लिखकर छोड़ दिए जाने हैं । राजधानी के राजा तो है ही, और  
 अगर 'महा राजा महा प्रजा', तो प्रजा क्या न होगी ? लेकिन दिल्ली या  
 दूसरी राजधानियों को छोड़कर भी कहीं ऐसा माननेवालों की कमी है ? अब  
 तो कवियों का भी यही हाल है और भारतीय भाषा-क्षेत्रों में हिन्दी का क्षेत्र  
 सबसे अधिक इस रोग से ग्रस्त है । हिन्दी का लेखक भी इस रोग से ग्रस्त है ।  
 जो भाषा एक समय राष्ट्रभाषा होने का दम भरती है (ही) उसका लेखक भी  
 छिपे छिपे यह मानता है कि हिन्दी की कोई चीज अपने-आप (या किसी विदेशी)  
 अनुवाद में धा जाणगी तो मान सेना होगा ( बल्कि सभी प्रमाणित होगा -- )  
 कि वह पढ़ने लायक है ।

यह तो साफ नहीं कहा जा सकता कि मसार में कोई ऐसा दूसरा देश न  
 होगा जिसमें देशी भाषा के लेखक की स्थिति इतनी विग्रम हो , समय और  
 सांस्कृतिकी मसार में साफ साज ऐसा दूसरा देश नहीं है जिसका साहित्यकार  
 अपनी विग्रम परिस्थिति में लिखता हो, जिसका सप्टा अपने ही भाषा-समाज में  
 इतना हीन, अपदम्भ हो जितना भारत में ।

उसी भारत में जहाँ हम आज भी पढ़ते हैं कि भरतों के मुस से स्वयं वाक्  
 भास्वामन देनी थी कि

अहमेव स्वयमिद वदामि जुष्ट देवेभिस्त मानुषेभि ।  
 य कामये तन्मुप कृणोमि त ब्रह्मण तप्यि न मुमेषाम् ॥  
 मह द्वाय धनुरा तनोमि ब्रह्मादिये धारवे हन्तवा उ ।  
 यह जनाय ससद कृणोम्यह धावापृथिवी धा विवेश ॥

(ऋग्वेद १०.१२५.५-६)

नीमचढ़ा करेला हमने कभी खाया नहीं । लेकिन उसके वैशिष्ट्य का अनुमान जरूर  
 कर सकते हैं । और भारतीय लेखक की—भारतीय भाषा-लेखक की—जिस  
 साधारण अवस्था की चर्चा हमने की है, उसके दायरे में हिन्दी लेखक की स्थिति  
 की कल्पना करें तो लगता है कि वही वैशिष्ट्य उसे भी प्राप्त है, क्योंकि भारतीय  
 भाषाओं में लिखने की भारतीय लेखक की सामान्य समस्या के साथ-साथ हिंदी

ही हम कह सकते हैं कि साहित्य के इतिहासों में ऐसे लेखकों का नाम रखा आवश्यक नहीं समझा जाएगा और न पाया गया तो किसी को फ़िल्म का शिकायत न होगी। (बल्कि खुद उन लेखकों को भी न होगी : उनमें से कुछ तो ऐसा भी समझ सकते हैं कि साहित्येतिहास में उनका नाम धा जाने में उतरी बिक्री को धक्का पहुँचेगा। जैसे फ़िल्मों पर राष्ट्रीय पुरस्कार देने के प्रश्न पर विचार करते समय एक बम्बईया फ़िल्म-निर्माता ने हमसे एक बिगैर फ़िल्म के बारे में कहा था, 'देगिए, यह फ़िल्म यों भी बहुत ज्यादा पैसा नहीं बसा रही है, वहीं आपने इसे राष्ट्रीय पुरस्कार दे दिया तो यह बिलकुल मारी जाएगी।' पुरस्कारप्राप्त फ़िल्में विदेशों में प्रदर्शन के लिए भले भेज दी जाएँ, हम देगें कोई उन्हें देगने नहीं जाना बाहेगा।') लेकिन साहित्य के सम्बन्ध में किसे लेगा कहना समझ होगा, ये धरना समाज खुदों की स्थिति में नहीं है। अधिकतर वे यह जानते भी नहीं हैं कि उनका पाठक कौन है या होगा। जो जितना ही गहरा और गम्भीर लेखक है वह अपने पाठक के बारे में उतना ही धन्य है। क्योंकि वह मानता है और टीका ही मानता है, कि जैसा गम्भीर पाठक वह चाहेगा वह चायद विदेशी साहित्य ही पढ़ता रहा होगा और पढ़ता होगा, और उम्र तक हम बात की गुंजा भी मुश्किल में या बरी देर में पहुँचेगी कि भारतीय भाषा में उसके लिये समान रूप का लिखना।

## लेखक की स्थिति

है। लेकिन एक तो समकालीनता भी अपना ऐतिहासिक सन्दर्भ रखती है, निरी समकालीन स्थिति से थोड़ा घागे बढ़कर इतिहास के परिप्रेक्ष्य में, आज के लेखक को देखना भी उपयोगी होगा। इतिहास के परिप्रेक्ष्य में, अर्थात् परम्परा के परिप्रेक्ष्य में। कवि को मनीषी माननेवाले इस देश में काव्य-मनीषा एक विशिष्ट प्रकार की मनीषा रही है। साहित्य-प्रतिभा की यह विशेष परिकल्पना हमें—शायद हर पूर्वी देश को—पश्चिम से बुनियादी तौर पर अलग कर देती है और रखती आई है। अगर हम यह मान भी लें कि पश्चिम के मध्यकाल तक पश्चिमी जगत् की, जिसे हम यहाँ इस विशेष सन्दर्भ में ईसाई जगत् का पर्याय मान ले सकते हैं—कि मध्यकाल तक पश्चिम की यानी ईसाइयत की स्थिति हमसे बहुत भिन्न नहीं थी, तो भी यह मानना होगा कि पश्चिम ने अपने को रेनेसांस (पुनरुज्जीवन) द्वारा मध्ययुग से तोड़ लिया। जबकि हमने अपने बीच उन्नीसवीं सदी के रेनेसांस के आभास के बावजूद अपने को अपनी मध्ययुगीन परम्परा से नहीं तोड़ा। आज पश्चिम का लेखक उस वर्ग में गिना जाता है जिसे बौद्धिक (इंटेलेक्चुअल, इन्तेल्लिगेन्सिया या इंटेलिजेंशिया) कहा जाता है, भारत में यह वर्ग लगभग है ही नहीं, यहाँ तक कि हमारे वैज्ञानिकों में भी कुछ ही हैं जिन्हें मध्ये अर्थ में इंटेलेक्चुअल या इन्तेल्लिगेन्सिया वर्ग का सदस्य कहा जा सके—यानी ऐसे लोग जो बुद्धिमत्त प्रमाण के साथ उसकी चरम परिणति तक चलने को तैयार हों। हमारे देश का तथाकथित बौद्धिक आज भी इन्तेल्लेगेन्सिया वर्ग का नहीं सितैराती—साहित्य-सम्बन्धी वर्ग का प्राणी है यानी वह अपना अन्तिम प्रमाण एवान्त शुद्ध और समन्वयित बुद्धि में न योजकर शास्त्र में, परम्परा में, धानुवैश्व धनुभव अथवा सम्सारवर्ती प्रतिभा में योजता है। उस जिज्ञासु-भाव को अनुमोदन देना जान पड़ता है जो बौद्धिकता की नींव है, पर वास्तव में आलोचनात्मक उस नचिबेना को देना है जिसे 'तं कुमारं—अट्टाविवेश'। एवाद्दुनो भूयान्निचिबेत प्रष्टा' में हम में अट्टाविष्ट जिज्ञासा ही आश्रय पाती है।

निम्नलिखित उस परिस्थिति के कारण है। लेकिन परिस्थिति कारणभूत है, हमसे यह नहीं गिड़ हो जाता कि वह भीकारभूत भी है। सैरिष जीवन का एक छुटकुला कभी सुना या मिथिलियन कर्ष ने बिट्टियाँ पर गने जिलने समय एक पत्र पर 'इंटेलिजेंट अफेयर' की बजाय 'इंटेलिजेंट अफेयर' लिख दिया था, इस गदनी पर उसकी देरी कमान-अफेयर के मामले हुई जिसने दौड़कर पूछा, "तुमने 'इंटेलिजेंट अफेयर' कैसे लिख दिया? क्या तुम नहीं जानते कि मेला में मेला कोई अफेयर नहीं होता?" छुटकुला छुटकुला है, सैरिष दर

में लिखनेवाले की एक भलग और कही विकटतर समस्या भी है। वह हिन्दी में लिखता है, यही उसकी विकटतर समस्या है। हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा हो, या हो सकती है, इस सम्भावना को लेकर जो विवाद और वैमनस्य सघातार बढ़ता गया है, उसका दण्ड हर हिन्दी-लेखक को मिलता है। किसी भाषा के लेखक को केवल अपनी भाषा के कारण विरोध ही नहीं, घृणा और घमसान के जैसे उग्र वातावरण में नहीं जीना और काम करना पड़ता जैसे में हिन्दी के लेखक को। और यह आज की स्थिति है : आजादी की वयस्कता के दिन की; आजादी से पहले के भारत में भी हिन्दी की यह स्थिति नहीं थी। और हमारे जीवनकाल में तो किसी भाषा की स्थिति ऐसी नहीं हुई ; यहाँ तक कि पाठ्यरी से पहले अंग्रेजी राज में, जब हम अंग्रेजी की प्रति भक्ति से छुटकारा पाकर भारतीय भाषाओं का (कम-से-कम जयानी) सम्मान करने लगे, तब भी अंग्रेजी तक को ऐसे विरोध और ऐसी घबहेलना का सामना नहीं करना पड़ा। ऐसा तो कभी-कभी सुनने में आ जाता था कि 'अमुक अच्छा लिखता है, लेकिन है तो आखिर अंग्रेज', जैसे रुडयार्ड किप्लिंग के ही देश में कई प्रसन्नक थे जो उमरी रचनाओं का साहित्यिक मूल्य स्वीकार करते थे लेकिन उसकी अंग्रेज दृष्टि से सम्मन नाराज थे—यानी उनके अंग्रेज होने पर नाराज थे। लेकिन अंग्रेज का विरोध अंग्रेजी का विरोध नहीं था। अंग्रेजी साहित्य को अंग्रेजी में लिखा गया होने के कारण कभी हेय नहीं माना गया ; न कभी ऐसा हुआ कि उमरी पढ़ता शुरू करते समय हम इन गरी प्रश्न की बजाय कि 'हम पढ़कर देंगे कि यह अच्छा है या बुरा ?' अपने मामले यही प्रश्न रगड़कर चले कि 'यह अंग्रेजी में लिखा गया इसलिए इसे हमें नहीं पढ़ना है'। हिन्दी का

है। हम जानते हैं कि मैत्रेय के देह में ही शरीर का एक बड़ा बड़ा कण्डा है। इतिहास-बोध में ही शरीर का एक बड़ा कण्डा है। लेकिन एक जीवन मगन की विशेषता है कि एक मैत्रेय कभी ज्ञानी की पूर्ण दूसरी मैत्रेय विनिष्टता या प्रतिभा में बदल जाता है। मगन नाम के प्राप्ति मगन के बारे में भी यह बात सच है। भाग्यशाली में शरीर इतिहास-बोध की कमी है तो उस कमी की पूर्ण वह एक अत्यन्त मगन और समर्थ स्थिति-बोध में बदल जाता है। उसकी प्रतिभा प्रत्युत्पन्न मगन की प्रतिभा है और ऐसा प्रत्युत्पन्न कभी दूसरे समाजों या मगनियों में दुर्लभ ही होगा।

जीव की स्थिति की एक पुरानी कहानी पढ़ी थी। बचपन में उसके सचित्र रूप भी देखने को मिलने थे। वह वृक्ष की छाया में लटका हुआ एक मनुष्य एक छोटे कुएं के भीतर झूम रहा है, पेड़ के तने के पास बांध बैठा है कि मनुष्य उतरे तो उगेगा न, जिस छाया में मनुष्य लटका रहा है उसे दो चूहे लेंगे तो काट रहे हैं और न जाने कब वह डाल बट जाएगी। अंधे कुएं में नीचे नाग और साहू मुंह बाएँ प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कब मनुष्य गिरे और कब वे उसे मार लें। ऐसे में कैसे गोचा जाए कि वह मनुष्य अपनी स्थिति को नहीं पहचान रहा है—स्थिति-बोध तो उसे है ही। लेकिन एकाएक वह देखता है कि उसके मुंह के ठीक सामने कुएं की जगह के भीतर से उगी हुई घास की एक लम्बी पत्ती के छोर पर एक बूँद मधु जमा हुआ है जो झब झब गिरा, झब गिरा। और मनुष्य एकाएक मुँह खोलकर जीभ बढ़ाकर मधु की वह बूँद चाट लेता है। उस मधु का स्वाद ! स्थिति-बोध का सच्चा आस्वाद वही है, उसी स्थिति में जाना जा सकता है कि वह मधु कितना मीठा है।

पश्चिम के अस्तित्ववादी यह कहानी नहीं जानते। अस्तित्व के सबसे सकट-पूर्ण क्षण में ही अस्तित्व का सच्चा आस्वाद मिलता है, इस बात तक पहुँचने के लिए उन्हें दो महायुद्धों की, दूसरे महायुद्ध में पराजय और बिना लड़े हथियार डाल देने के अपमान की आत्म-ग्लानि की जरूरत पड़ी। अपने को हीन, पराजित, असहाय और पतित पहचानकर ही उन्होंने इस स्वाद का मूल्य जाना। क्योंकि वे इतिहास-जीवी थे, इतिहास-बोध से बंधे हुए थे। लेकिन भारत की पौराणिक गाथा सदियों से इस बात को पहचानती है। कमलपत्र पर मोम की बूँद की नश्वरता का मोदयं, कोपगत द्विरेफ की प्रभात-चिन्ता का सौन्दर्य, अस्तित्व के कुएं में लटकने हुए जीवन के मधुबिन्दु का स्वाद-माधुर्य—हमारे लिए ये सुपरिचित ही नहीं, चिरपरिचित बातें हैं क्योंकि हमारी प्रतिभा सीधी वहाँ तक पहुँचती है। हमारा अस्तित्व-बोध मुरजब हमें अपनी अवस्थिति से अवगत

या तो मोटे तौर पर हमारे सारे देश के बारे में सच होगी कि यहाँ पर इंटेलिजेंट लोग तो बहुत हैं लेकिन इंटेलिजेंस दुर्लभ है ; बुद्धिमान् प्रचुर हैं, लेकिन बौद्धिक मुस्विस्त ही मिलेगा। गायकर साहित्य-जगत् में कोई ऐसा मिलेगा जो इंटेलिजेंस बहुताने का पात्र हो तो उसे झूठा ही माना जाएगा और मानना होगा।

भाषाओं की ओर भाषा की समस्या जिस तरह बाह्य स्थिति की समस्या है, उसी तरह बौद्धिकता की यह समस्या लेखक की साम्यन्तर स्थिति की समस्या है। इतिहास और परम्परा के बावजूद लेखक को, 'कविमंतीपी' को—बौद्धिक होना ही है ; बौद्धिक होकर उसकी निम्न बुद्धि से इतिहास और परम्परा का मूल्यांकन करना है। परम्परा न सब-की-सब और ज्यों-की-त्यों मूल्यवान् है, न ही सब-की-सब और ज्यों-की-त्यों बिल्कुल कूड़ा है। लेकिन क्या मूल्यवान् है और क्या कूड़ा, क्या ग्रहण करना है और क्या छोड़ना, किसको किसके साथ मिलाना और किसकी किस पर पंखड़ी करनी है, इसका निर्णय बुद्धि के सहारे ही हो सकेगा।

लेखक की स्थिति के एक और पहलू का उल्लेख करना आवश्यक है। शायद उसे केवल स्थिति न कहकर 'स्थिति के भीतर अवस्थिति' कहना चाहिए। एक स्थिति इतिहास में होती है, वह निर्धारित करती है कि किसी विशेष अवस्था में हमारे क्या करने की सम्भावना है, निर्देश देती है कि हमें क्या करना चाहिए। लेकिन एक हमारी जीवन में या कर्म में स्थिति है जो निर्धारित करती है कि हम क्या करेंगे, निर्देश देती है कि क्या करो। बल्कि ऐसा कहने में भी कारणत्व या प्रेरकत्व पर कुछ अधिक आग्रह हो जाता है : यह जीवन-स्थिति ऐसी होती है कि उसमें किसी बोध के कारण हमारे द्वारा प्रमुख विशेष प्रकार का कर्म ही हो सकता या हो जाता है। मैं यह स्थिति नहीं, महज स्थितिबोध है। भारतीय प्रतिभा का विदेशी आलोचक प्रायः कहता है कि भारतीय को इतिहास का बोध नहीं होना—उसमें 'सेंस ऑफ हिस्टरी' की कमी है। जिस अर्थ में विदेशी यह बात कहता है उस अर्थ में यह शायद सच भी है। इसका एक कारण तो यह भी है कि पश्चिम का और हमारा बाल-बोध अलग-अलग प्रकार का है ; हमारी कान की परिक्ल्पना अलग-अलग है। इतिहास-बोध के लिए अनुकूलिता अनिवार्य है यानी समय की सीधी रेखा के रूप में देखना आवश्यक

पहचानें, इसका भी एवमात्र जवाब यही है कि पाठक को पहचानो  
इतिहास में त्रिषे वा स्थिति में त्रिषे, युक्ति के महारे चने या बोध के  
बने, ये समाज भी समझ दोगी कोटि के हैं : गवानों के जवाब गवानों  
ही हैं ।

करता है और हमारा प्रत्युत्पन्न कर्म स्पष्ट करता है।

इस तरह से कही गई बात ऐसी भी लग सकती है कि हंगो की बात थी। लेकिन वास्तव में वह हंगो की नहीं है। शायद उदाहरण देकर उसे इन बातों की परिधि से उबार लिया जा सकता है। जवाहरलाल नेहरू इतिहास में बोले थे, उनका बोध ऐतिहासिक बोध था। कोई भी घटना होने पर, उसके मत में वह कहाँ खड़े हैं यह जानने के लिए उसके लिए जरूरी होता था कि उस बात को इतिहास के चौखटे में रखें ; उस चौखटे के भीतर उसके स्थान, उसकी अपनी दूरी आदि का निरूपण करके ही वह निश्चय करते थे कि वह सत्य कहाँ खड़े हैं। उनसे मिलनेवाले पश्चिमी लोग सभी मानते थे कि नेहरू का मन पश्चिमी मन है—उनकी समझ में आ सकनेवाला मन है।

दूसरी ओर मोहनदास गांधी को कभी किसी परिस्थिति में इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी कि घटना को इतिहास के चौखटे में रखकर उसमें अपनी सम्बन्ध जोड़ें या निर्धारित करें। वह घटना से सीधे प्रभावित होते थे, उनसे सीधा सम्बन्ध जोड़ने से, उनका स्थिति-बोध मुग्त एक प्रत्युत्पन्न मानविक कर्म-निर्देश प्रस्तुत कर देता था। वह सीधे पहचानते थे कि वह कहाँ खड़े हैं। उनसे मिलनेवाले पश्चिमी लोग सभी कहते थे कि गांधी का मन पूर्णतः भारतीय—उनकी समझ में आ सकनेवाला नहीं है।

मैं हिन्दी को राजभाषा बनाने का तर्क नहीं दे रहा हूँ। उमे सिद्ध .  
 मे मेरी कोई दिलचस्पी नहीं है। हमारा काम अंग्रेजी से नहीं चल .  
 इतना हम मान लें तों उससे आगे के तर्क स्वयं गिद्ध हो जाते हैं। काई भी  
 भारतीय भाषा अंग्रेजी का म्यान ले ले, यह मुझे स्वीकार्य है। कौन-सी  
 भारतीय भाषा के लिए इसकी सम्भावना सबसे अधिक है? किमको यह  
 स्थान देने में देश को, प्रदेशों को, इतर भाषाएँ बोलनेवालों को सबसे कम  
 परिथम करना पड़ेगा? इन प्रश्नों के उत्तर जो सकेत करते हैं मैं उसमें  
 सन्तुष्ट हूँ।

लेकिन कुछ राष्ट्रीय संस्थाओं को सभी भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन  
 देते हुए और भी कुछ सोचना चाहिए। साहित्य अकादेमी ऐसी राष्ट्रीय संस्थाओं  
 का एक उदाहरण है। यह संस्था प्रतिवर्ष सभी भारतीय भाषाओं के श्रेष्ठ  
 साहित्य को पुरस्कृत करती है। पुरस्कार देने की पद्धति में और भी त्रुटियाँ हैं  
 जिनकी ध्यानोचना होनी रहनी चाहिए, लेकिन यहाँ मैं एक बुनियादी गलत  
 उठाना चाहता हूँ जिसका सम्बन्ध राष्ट्रीय चेतना से है। अकादेमी सब  
 भाषाओं को 'समान दृष्टि से' देखना चाहती है। लेकिन जो माँ अपनी सभी  
 संतान को समान दृष्टि से देखती है वह विवागशील तिमोर और बदमाश  
 युवक को एक-ही मात्रा में भोजन देने में आप्रह नहीं करती। समान दृष्टि से  
 देखना ही असमान व्यवहार को अनिवार्य बना देता है। उमने भी बड़तर  
 महत्व की बात यह है कि समान दृष्टि का कहीं गहनी है अगर धार तिनही दो  
 को एक साथ देखने को ही तैयार न हों? मेरा आप्रह यह रहा है और यह  
 भी है कि भाषाओं के पुरस्कारों के अनिश्चित और ऊपर, कम-से-कम एक  
 पुरस्कार ऐसा होना चाहिए जो कि गम्भीर अर्थ में 'राष्ट्रीय पुरस्कार' हो  
 —भाषाओं के विचार में ऊपर हो और कुछ गार्हि यह प्रमाणों के आधार  
 पर दिया जाए। हमने और भाषावार पुरस्कारों में कोई विशेष नहीं है, बल्कि  
 ये परस्पर पोषक है।



उमड़ी कमीटी पर स्वयं भी तबरे उतर सकते हैं; तब क्या एक साहित्य की क्षेत्र ऐसा है जिसमें हम नेगकर चलना आवश्यक मानते रहेगे ?

.

---

कावेरी पत्रिका के लिए फरवरी १९६५ में लिखित । ज्ञानपीठ के साहित्य-पुरस्कार की स्थापना से एक पुरस्कार तो ऐसा हुआ है जोकि माया-प्रदेशों से ऊपर उठकर सांवदेशिक लक्ष्य सामने रखता है । व्यवहारतः वह कहीं तक 'राष्ट्रीय' पुरस्कार बन पाया है, साहित्येतर विषयों से अप्रभावित रह सका है, 'मायाओं के विचार से ऊपर' उठ सका है और 'शुद्ध साहित्यिक प्रतिमानों के आधार पर' निर्णित होने का अविवल लक्ष्य अपने सामने रख सका है, और जन-साधारण में ऐसी प्रतिष्ठा पा सका है, पांच निर्णयों के बाद भी ऐसा नहीं है कि ये प्रश्न शमित हो गए हों । माया और साहित्य में प्रादेशिक प्राग्रह कम नहीं हुए हैं बल्कि सरकारी संस्थाओं से फंसकर विश्वविद्यालयों में भी जड़ पकड़ गए हैं—या यों भी कहा जा सकता है कि विश्वविद्यालयों की ही सरकारी संस्थाएं बनाने और मानने की प्रवृत्ति बढ़ती गई है ।

२  
 ... के प्रति हमारे गुणगान में भाग है। 'युद्ध' ... का मा समझना का मा हिंसा का मा बदला का मा तन का ... है—सही एक न रहकर हम वही न मर भी मोने को बाप ... कि हम मौलिक दुर्गियों में धेनू दुर्गों का ध्यान भारती ... के परिशेष में क्या स्थान है? अगर हम अपने साहित्य को भारतीय ... में देसने एक भी मही मही मरने तो बिग बापा पर यह धारा कर ... है कि हमारे साहित्यों का बिग-साहित्य में कोई स्थान मिलेगा?

देवी गम्भ में तो हम सगुणिक हम में गोपने का—घोर यह सगुणिक ... हर हर पर पाते हैं, प्रादेशिक साहित्यकारों में, भाषाओं की मस्याओं ... प्रादेशिक धरादेशियों में, राज्यों की सरकारों में घोर बेग की साहित्य की ... की मस्याओं में—ही परिणाम यह है कि एक घोर हम प्रादेशिकता ... बने रहते हैं घोर दूरी घोर विदेशी प्रभावों को मस्यायुक्त यह ... है घोर कृतिार की मज्जा घनुकृतिार होने जाते हैं।

विश्व-साहित्य की पवित्र में वही भारतीय साहित्यकार बँठ सवेगा जो पहले ... राष्ट्रीय साहित्यकार हो—जिसकी कृति में समूची भारत जाति घोर समन्वित ... भारतीय सस्कृति बोलती हो। बाकी सब साहित्यकार अपनी पक्तियों में पड़े रह ... जाएंगे (भले ही उग पक्ति में शीर्ष स्थान उन्हें मिलता रहे) या फिर नकल- ... की या छायाप्राप्ति की पवित्र में धा आयेंगे (वह ध्यावसायिक दृष्टि से ... जितनी भी लाभकर हो)।

मैं यह स्वप्न देखता हूँ कि सभी भारतीय भाषाओं के कृतिार इस ... व्यापकतर दृष्टि को अपना सकेंगे और साहित्य अकादेमी को इतनी प्रेरणा ... और इतना बल दे सकेंगे कि कम-से-कम एक ऐसे राष्ट्रीय पुरस्कार की प्रतिष्ठा ... हो सके। उसमें व्यवहार और पद्धति सम्बन्धी कई कठिन समस्याएँ उठेंगी, ... लेकिन कोई समस्या असाध्य नहीं होगी अगर सही सिद्धान्त से आरम्भ किया ... जाए। हम 'विश्व-शान्ति-पुरस्कार' की कल्पना कर सकते हैं और समझते हैं कि ... उसके निर्णय के लिए हम सारे ससार के शान्ति-वर्मियों के नामों का मूल्यांकन ... कर सकेंगे; हम 'अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म प्रतियोगिता' कर सकते हैं और विश्वाम ... करते हैं कि हम न केवल अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि में देख और सोच सकते हैं बल्कि

विदेनी मंशुति ने टकराहट में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि भारती मंशुति क्या है, उमने क्या मूल्यदान और स्पृहणीय है, किन मूल्यों में उमका गामय्यं निहित है और कौन-सी प्रवृत्तियाँ उने वह बल और वह गतिशीलता दे सकती हैं जिमकी उने पश्चिमी मंशुति का मुकाबला करने के लिए आवश्यकता होगी । उमी प्रकार स्वाधीन भारत की गही रूप-परिवर्तनता के लिए आवश्यक था कि एक स्वायत्त भारतीय मंशुति का रूप भी हमारे गामने हो ।

लेकिन यहाँ में धामे न केवल चित्र धुंधला हो जाता है बल्कि प्रश्न भी धूमिल होने लगते हैं । ऐसा क्यों हुआ कि जहाँ एक ओर यह प्रश्न प्रतिदिन नीसे में तीव्र होता गया कि राजनीति के मन्दर्भ में स्वाधीन भारत की राष्ट्रीयता—स्वाधीन भारतीयता—क्या है, वहाँ दूसरी ओर इस समान्तर महत्त्व के प्रति लोग उदासीन हो गए कि सांस्कृतिक मन्दर्भ में स्वाधीन भारतीयता क्या है ? यह तो अनियामं ऐतिहासिक क्रिया है कि राजनैतिक, धार्मिक अथवा तत्त्वज्ञानी दृष्टि से समृद्धतर और प्रबलतर मंशुति का प्रभाव दूसरे ग्रहण करते चलें—अच्छा प्रभाव भी और बुरा प्रभाव भी—लेकिन यह क्या कम स्वाभाविक है कि एक विकासमान नवम्बतन्त्र देश के नाते भारतीय मंशुति के शील की—सांस्कृतिक भारतीयता की—पहचान का प्रबल धायह हममें हो ? क्षेप-फल की दृष्टि में भारत में छोटे, या सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से भारत की अपेक्षा कम प्रौढ देशों में भी हम यह प्रवृत्ति देय सकते हैं, और ऐसा भी नहीं है कि सर्वत्र इस प्रवृत्ति का स्वर सांस्कृतिक सकीर्णता या प्रतिक्रियावाद का ही स्वर हो । (बल्कि वैसी दुराग्रहमरी पश्चमुत्पत्ता और युयुत्मु सकीर्णता—गॉविन्दरम—तो भारत में भी काफी क्रियाशील है ।)

मेरी समझ में इस विषय स्थिति का एक कारण यह है कि पिछले बीम वर्षों में हमारी एक क्षतिपूरक महत्वाकांक्षा में हमें विश्व-मंशुति की एक मरी-चिक्का का शिवार हो जाने दिया है । कदाचिन् यह विश्व-राजनीति के मन्त्र का प्रमुख अभिनेता होने की महत्वाकांक्षा का ही सांस्कृतिक पहलू रहा । यह नहीं है कि एक विश्व-मंशुति, विश्व-मानव अथवा विश्व-नागरिक का धादसं हम देश की परम्परा में नहीं रहा । लेकिन वह धादसं तभी तक प्राणवान् और प्रेरणा देनेवाला रहा जब तक कि उसका धाधार एक समृद्ध और समर्थ सांबंदेशिक मंशुति और एक ध्यात्म-विश्वास-भरी देशध्यापी मंशुतिक भावना रही । वैदिक काल का सामाजिक जब वृश्चन्तो विश्वमार्यम् की बान मोचना था तब स्वयं अपने धार्यत्व में उगकी धास्था पी और उम पर वह गर्व भी करना था । मध्यकाल के वैष्णव भी जब कहते थे कि 'मनके ऊपर मनुष्य



इम चुनौती की मही पहचान और इमका सम्यक् स्वीकार हमने न हम एक आत्म-प्रवचना के कुहासे में ही जी रहे हैं और जीते निर्भर होने में पहले समृद्ध होने चलने की भूल का भय है और गरीबी; उसी तरह मच्चे पथ में राष्ट्र होने से पहले 'वर्ड पावर' के मोह का परिणाम है देश-विघटनकारी राजनीति । इसी तरह मंशुति होने में पहले विरव-मंशुति की पिनक का एक ही परिणाम हो है : वह परिणाम जो आज हम देश में जगह-जगह देख रहे हैं ।

विरवव्यापी सहयोग और सांस्कृतिक सम्पर्क की यह एक जीवित समस्या है । विरव के स्तर पर सांस्कृतिक सहयोग या तो व्यक्ति करता है—यानी व्यक्ति के विचार ही सम्पर्क का आधार होते हैं, वह सम्पर्क चाहे व्यक्ति और दूसरे व्यक्तियों के बीच हो, चाहे व्यक्ति और समाजो-मंशुतियों के बीच—या फिर सम्प्रागत सम्पर्क राष्ट्रों और राष्ट्रों के बीच हो सकता है । 'ऐसे सम्पर्क का सरकारी के बीच होता जरूरी नहीं है । लेकिन गैर-सरकारी सस्थाएँ भी यह काम तभी सम्पन्न कर सकती हैं अगर जिस संस्कृति की ओर से या जिस संस्कृति के माध्य सम्पर्क वे करना चाहे उसका एक देशव्यापी रूप उनके सम्मुख हो ।

है, उससे ऊपर कुछ नहीं"। अथवा 'जो भी हो मेरा पड़ोसी है, वहाँ भी मेरा देश है'। तब उनकी विश्व-मानवता या विश्व-नागरिकता को पुष्ट करने वाली एक देशव्यापी वैष्णव अथवा भक्त समाज की परिवर्तना दी। तेलंग भाज का तमिल, तिरुवल्लुवर की दुहाई देता हुआ सारे संसार के लोगों को अपना पड़ोसी और देशों को अपना घर मानने को तैयार है—लेकिन हिन्दू-भाषी को और भारतवर्ष को छोड़कर। और ऐसी ही संकीर्ण दृष्टि मात्र के सांप्रदायिक वैष्णव—वैष्णव ही क्यों, साम्प्रदायिक हिन्दू मान को है। दुर्ते के शकराचार्य के एकाधिक वक्तव्य ऐसे ही संकीर्ण चिन्तन के अन्धे सनकादीन उदाहरण हैं। एक 'जगद्गुरु' से जिस उदार व्यापक मानवीय दृष्टि की प्रशंसा हम करते (और इसमें तथा धर्म-दृष्टि में कोई विरोध नहीं, समझें-धर्म की भारतीय परिकल्पना के सन्दर्भ में) वह तो दूर की बात, इतिहास और धर्म-दर्शन की दृष्टि से इतनी पोच दलीलें कोई विद्वान दे सकता है इतनी कल्पना करना भी कठिन होता।

विश्व-संस्कृति की भारती उतारकर मानो सत्कारी भारतीय होने के दायित्व से हम छुट्टी पा जाते हैं; न केवल अपने कुएँ के मेंढक बने रहने के लिए आधार पा लेते हैं बल्कि और सब ताल, पोखर, नदियों से मृणा का संपर्क हमें मिल जाता है। ठीक वैसे ही, जैसे अपनी राजनीति में विश्व-नागरिकता की भारती गाकर हम भारतीय नागरिकता की जिम्मेदारी से मुंह पट्टे लेते हैं और तन्मय होकर जात-पात, दल-बदल और श्रेय-सरीसृप की प्रादेशिक भावनात्मक या निरी गँवई राजनीति में भाकठ दूबे रहते हैं।

'धर्मार्थ और भादस के बीच का पड़ती है तेरी छाया' यदि यह किसी दूसरे सन्दर्भ में कहा था, लेकिन हमारे मात्र के धर्मार्थ में यह बीच में का पड़नेवाली छाया ही हमारा भादस है, या हो सकता है। धर्मार्थ है धार्मिक और प्रादेशिक सभ्यता, धर्मार्थ है प्रादेशिक, धार्मिक और धार्मिक राजनीति। धादस है विश्व-सभ्यता, भादस है विश्व-राजनीति और विश्व-नागरिकता। और बीच में विधाना की छाया है भारतीय सभ्यता और भारतीय नागरिकता जो भगवत् सत्ताई और धर्म सत्कार है। जब तक इन धर्मार्थ, इन भादस

१. चंडोराग

२. तिरुवल्लुवर

३. टी० एम० एनिएट. विद्वान् ४ (दृष्टिगत) एड्ड एड्ड  
सोरो

पर यह कहने में कि 'भारतीय उपन्यास' नाम सार्थक हो जाता है, और यह कहने में कि उपन्यास-विधा में एक विशेष रूप-मण्डना है जिसे भारतीय उपन्यास-रूप कहा जा सकता है, काफी भ्रन्तर है। विधा और रूप बनना चाहिए : रूपाकार के साथ कोई देश-घट्टा जाति-वाचक है या नहीं यह सोचने की बात है। अगर रूपाकार एक सौन्दर्य-तत्त्व राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व करना चाहिए—धृतिराष्ट्रीय होना चाहिए—वृत्ति—उपन्यास-वृत्ति—में या तो रूपाकार है या नहीं है, जातिवाचक है तो यह बलापस्तु नहीं बन जायेगी, और अगर बला-वृत्ति है तो ऐसे बिल्ले उसे जहरत क्या है ?

धैर्यनिष्ठा, पद्धतिनिष्ठा, शिल्प, तन्त्र-रूपाकार को रूपायित और रूप-बोध का सम्प्रेषण करने के लिए इनके विभेद हो सकते हैं, पर तन्त्र स्वयं रूपाकार नहीं है।

तन्त्र के साथ भी विशेषण की क्या आवश्यकता है, क्या आन्वयिक महत्त्व है ? केवल ऐतिहासिक मूल्यांकन की दृष्टि से उसकी सार्थकता या प्रयोजनीयता हो सकती है, कोई विशेष तन्त्र किसी विशेष देश-काल की उपज हो सकता है, किसी युग या समाज-विशेष की संवेदना का बहाना करने का विशेष सामर्थ्य रख सकता है।

भारतीय उपन्यास की चर्चा इसी सन्दर्भ में सार्थक हो सकती है।

उपन्यास मूलतः एक कालबद्ध रचना है। काल में घटित वाही रूपयुक्त वृत्तान्त उपन्यास है। इसलिए अगर काल-बोध भिन्न है तो उपन्यास का रूप भी भिन्न होगा। अगर उपन्यास-रूप विशिष्ट है तो काल-बोध भी विशिष्ट होगा।

इस परिप्रेक्ष्य में आख्यान का अगर कोई विशिष्ट रूपाकार है जिसे भारतीय प्रतिभा की अनन्य उपज माना जा सके तो वह शृंगलावद्ध कथा या कहानी-के-भीतर-कहानी ही है। हितोपदेश-पंचतन्त्र इसके प्राचिन रूप हैं। कथा-सरित्सागर, ईसाय की कहानियाँ, अलिक लंसा, बंताल-पचीसी और सिंहासन-बत्तीसी, डेकमेरॉन और तोता-मैना उसी शृंगला की बड़ियाँ हैं। सम्बद्ध मुनो-दृष्टान्तों के द्वारा ठोस व्यावहारिक ज्ञान-दर्शन की, परम्परा के रक्षण, प्रचार और प्रसार की ऐसी बधाएँ तो सारे सत्तार में मिलनी हैं, पर यह मानना सगन है कि एक मृष्टु और परिपक्व, परिमाजित साहित्यिक विधा के रूप में इसका विकास विशिष्टतः भारतीय है। मैं समझता हूँ कि आख्यान या उपन्यास-साहित्य में किसी रूपाकार को हम वास्तव में भारतीय कह सकते हैं तो वह यही है।

## उपन्यास की 'भारतीय' विधा

साहित्य के 'राष्ट्रीय' रूप में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं है। क्यों हो? राष्ट्रीयतापरक साहित्य हो सकता है; विभिन्न समयों पर उसकी उत्पत्ति भी हो सकती है और यह भी हो सकता है कि समूचे देश-समाज की मुख्य संवेदना का प्रतिबिम्बन और बहाना करते हुए साहित्य राष्ट्रीयता की भावना में अनुप्राणित हो। जिस देश-समाज में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो, जो राष्ट्रत्व के लिए छटपटा रहा हो, उसका साहित्य इस अकुलाहट को व्यक्त करे, इससे अधिक स्वाभाविक क्या होगा? पर क्या बँसा होने से ही हम कह सकेंगे कि वह राष्ट्रीय साहित्य है?

भारतीय साहित्य—हाँ। क्योंकि वह एक भारतीय संवेदना का बाह्य हो सकता है—ऐसी संवेदना, जिसके मूल में वैसे मूल्य हैं जो भारत के सांस्कृतिक इतिहास और अनुभव की उपलब्धियाँ हैं; ऐसी संवेदना, जिसको अभिव्यक्ति मिलने पर हर भारतीय अनुभव करेगा कि उसी को अभिव्यक्ति मिली है।

साहित्य-विधाएँ : क्या उनके साथ भी हम देशवाची विशेषण लगा सकते हैं? इस अर्थ में क्या 'भारतीय उपन्यास' की बात कर सकते हैं?

प्रश्न पूछता हूँ और सोचने के लिए रक जाता हूँ।

भारतीय भाषाओं के बहुत-से उपन्यासों का अध्ययन-विश्लेषण करके हम कुछ सामान्य धाराणाएँ उनके गुण-दोष या विशिष्ट प्रवृत्तियों के बारे में बना लें और बहें कि समुक्त-समुक्त बातें भारतीय उपन्यास में पाई जाती हैं—या दूसरी बात को उलटकर बहें कि जिस उपन्यास में समुक्त-समुक्त हो वह भारतीय उपन्यास है—तो बह कहना मगन हो सकता है, उगमे भारतीय उपन्यास के अध्ययन के लिए कुछ प्रकाश भी मिल सकता है।

मैं तो भारतीय लेखक हूँ न ? न्यूनाधिक भारतीय—जैसा कि न्यूनाधिक भारत है । और मैं न्यूनाधिक आधुनिक लेखक भी हूँ इसमिश्राय यह है कि मैं उन नाना प्रभावों के प्रति खुला हूँ जो राष्ट्रीय का प्रतिबिम्बण करते हुए आते हैं ।

इस प्रकार मैं आधुनिक विधाओं में रचना करता हूँ, पर उसी रूप में एक भारतीय वैसा कर सकता है ।

तो मैं कह सकता हूँ कि मेरा काल-बोध भी दोहरा है—बल्कि दोहरे से कुछ अधिक, क्योंकि मैं दो प्रकार का काल-बोध स्वीकार करके उनका परस्पर विरोध निराकृत करना चाहता हूँ ।

इस विशेष परिस्थिति का भी प्रतिबिम्ब आज भारत के उपन्यास में हो सकता है । उसके लिए विशिष्ट तन्त्र का आविष्कार या विकास हो सकता है । होगा, तो जिस सीमा तक होगा या जिस मात्रा में होगा उसी में या उसी तक हम एक भारतीय रूपाकार की बात कर सकेंगे । पर वैसा करके भी हम उसे किसी दूसरे राष्ट्रीय या जातीय रूपाकार की प्रतिस्पर्धा में नहीं रखेंगे—यही कहना होगा कि वह उपन्यास मात्र को एक देन है : उपन्यास मात्र की श्रीवृद्धि उससे होती है ।

---

अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन के मद्रास अधिवेशन (१९६२) में विचार्य प्रस्तुत किया गया एक प्रपत्र । (मूल प्रपत्र संश्लेष में था ।)

प्राधुनिक उपन्यास वास्तव में पश्चिमी उपन्यास है। हर भारतीय भाषा में उपन्यास का प्राविर्भाव पश्चिम के सम्पर्क का परिणाम है और इस बात के धारण तक बढ़ाकर भी कह सकते हैं। प्राधुनिक काल भी पश्चिमी काल है ऐतिहासिक काल के साथ ऐतिहासिक उपन्यास का विकास हुआ; फिर काल बोध के अद्वितीय, कालानुपरक, निर्व्यक्तिक होने के साथ-साथ उपन्यास में भी वही चीज प्रकट हुई : अद्वितीय बोध के, क्षण-भंग जीवन के, निर्व्यक्तिक 'अनुभूति' के उपन्यास अर्थात् प्राधुनिक (पश्चिमी) काल-बोध के साथ अनिवार्यतः बंधे हैं।

यह दूसरी बात है कि पश्चिम से जो हमने पाया है, उसमें हम दोबारा ऐसे भी तत्त्व पहचानें जो हमारे अपने थे जो हमने दिये पर, मूल दाता होने के कारण, देने में गँवा दिये; देकर सम्पन्नतर नहीं हुए।

शृंखलित कथा की जड़ें दो हैं।

पहली तो यह कि वह व्यवहार और व्यावहारिक ज्ञान की भूमि लोक-जीवन में खोजती और पाती है। उस ठोस, 'समान' सफलतापरक (प्रैग्मैटिक) चलती-का-नाम-गाड़ी कोटि के व्यावहारिक ज्ञान की, जिसके सहारे हमारा दैनन्दिन जीवन चलता है—उस समय भी जब हम उच्चतर क्षेत्रों के सपने देख रहे होते हैं या गहनतर विषयों की याह ले रहे होते हैं।

दूसरी यह कि उसका काल-बोध पश्चिम से न केवल पृथक् है बल्कि अभी कुछ काल पहले तक पश्चिम के लिए दुर्बोध और अगम्य रहा है। पश्चिमी नाटकीय सन्दर्भ की काल की एकता का भारतीय सन्दर्भ में कोई अर्थ नहीं रहा, क्योंकि भारतीय दृष्टि में सब काल सहवर्ती हो सकते थे।

पश्चिमी शॉर्ट-स्टोरी और भारतीय कथा में ये दो अलग-अलग काल-बोध प्रतिबिम्बित और परिलक्षित होते हैं। शॉर्ट-स्टोरी का लेखक उद्दिष्ट है, जल्दी में है, विश्लेषण करता चलता है; उसका काल-बोध ऐतिहासिक, ऋजुरेखा-नुसारी, अप्रत्याशित है। 'हो चुके' पर 'हो रहा' बरीयता पाता है, और हर घटना का एक अन्त होता है, परिणति होती है, भारतीय कथाकार या किराणो इमी-मान में है, मजे-मजे चलता है, उसकी दृष्टि सपाट है; उसका काल-बोध ऐतिहासिक और वृत्तानुसारी है। उगमे माना और जाना तो है, पर अन्त या काल जाना नहीं है। जो हो चुका है, वह पटित के नाने ही निरन्तर घटमान है। न कोई आदि है, न अन्त है।



## समकालीन कविता का संकट'

प्रश्न : समकालीन कविता, चाहे वह किसी नाम से संबोधित की जा रही हो, रचनात्मक स्तर पर एक संकट के बीच से गुजर रही है और वह भाषात्मक अनुभव को अभिव्यक्ति नहीं दे पा रही है. आप इस विषय में क्या कहना चाहेंगे ?

उत्तर : आपकी बात ठीक होती तब भी शायद 'कविता संकट के बीच से गुजर रही है' ऐसा न कहकर यही कहना उचित होता कि कवि संकट के बीच से गुजर रहा है और अभिव्यक्ति की असमर्थता उसी की है। लेकिन थोड़ा आप अपने प्रश्न पर विचार कीजिए। अगर कवि अभिव्यक्ति नहीं दे पा रहा है तो वह अनुभव क्या है, कहाँ है, क्या वास्तव में है भी ? कविता की दृष्टि से यह बात में भाषाज्ञी से नहीं मान लूँगा कि भाषा मधुवा शब्द से असंग एक अनुभव है जो कि आत्यंतिक है। (यह इसके बावजूद कि मैं स्वीकार करता हूँ और कहता हूँ कि कुछ अनुभव शब्दातीत होते हैं। जो शब्दातीत हैं उन्हें न कहने या न कह पाने को मैं रचनात्मक संकट नहीं कहता; और जो शब्दातीत नहीं है उम्मा अनुभव में शब्द से बड़ा हुआ नहीं मानूँगा।)

क्या जिस संकट की बात आप कह रहे हैं वह अनुभव को व्यक्त करने की असमर्थता का संकट न होकर अनुभव की बसो या अनुपस्थिति का संकट नहीं है ? क्या यह सदेह उचित नहीं है कि वास्तव में अनुभव ही नहीं है, कि एक नकली दर्द है, जिसे लेकर इतना शोर मचाया जा रहा है ?

मुझे अभी सदेह होगा है कि यह नकली दर्द अनुभव का दर्द है, कि नहीं

एक-दूसरे के बिना कवि न केवल स्वीकार करता नहीं करता, बल्कि विचार करता है कि बिना भी कविता, कविता वह नहीं बनती। अपने अनुभव के करने पर दूसरों के अनुभव के अनुवाद में काम करना चाहता है और यदि कवि को भीतर ही भीतर ही अनुभव करना है।

कवि को कविता का मानने से पहले है कि कविता वह है कि कविता कविता के रूप में होती है, और कवि कविता के रूप में जाता है। कविता कविता में से ही जन्म लेती है, इसलिए हम परिस्थिति कवि-कविता में दृष्ट कविता स्वभाविक है। कवि जिस दृष्ट का अनुभव कर रहा वह दृष्ट वह एक समाज में दृष्ट न होकर कविता में ही दृष्ट है—कविता में और कविता की भाषा में। मैं समझता हूँ कि यह कहना सही होगा, और पढ़ना में प्रमाणित होगा, कि आज जो कवि अपनी भाषा या कविता से अपने को बेगाना नहीं महसूस करने के अपने समाज से भी अपने को पराया या बड़ा दूरा महसूस नहीं करने, उस समाज में भले ही कितने भी नाराज क्यों न हों।

प्रश्न समकालीन कविता चाहे वह किसी शीर्षक में मगन हो, तथ्य-रचना, यथार्थ, सर्वाधिक संवेद्यता तथा अनादिक विचार की गवाहक बन गई है। मुक्ति की छटागट्ट हमारे नहीं है और यह निश्चित कर पाना कठिन हो गया है कि कौन-भी रचना कविता है, कौन-भी नहीं।

उत्तर : मैं नहीं मानता कि मुक्ति की छटागट्ट समकालीन कविता में नहीं है। मैं यह भी नहीं मानता कि कविता की पहचान अशुभ हो गई है। मैं समझता हूँ कि पारंगती भी है और निरूप भी है। बल्कि ऐसा नहीं होता तो आपने जो प्रश्न पूछा है वह उठता ही नहीं—सभी ऐसी रचनाएँ कविता हो जानी जिनके कविता होने का दावा किया जाता।

फिर भी परिस्थिति में अवाञ्छनीय कुछ अवश्य है। मैं समझता हूँ कि एक महत्व की बात यह है कि काव्य-संपादन नितांत अनुत्तरदायी है। यह बात छोटी पत्रिकाओं के बारे में जितनी सच है बड़ी पत्रिकाओं के बारे में भी उतनी ही सच है। बात को हिंदी तक सीमित रखें, तो यह कहना अत्युक्ति नहीं जान पड़ता कि हिंदी में ऐसी कोई भी पत्रिका नहीं है जिसमें कविता का संपादन सरा और प्रामाणिक माना जा सके। मैं सिर्फ मतभेद की बात नहीं कह रहा हूँ; मेरी शिकायत यह है कि कोई भी संपादक या संपादन-मंडल खुद अपनी कमीटी में पूरा काम नहीं लेता। किसी भी पत्रिका में कविता के छपने से हम यह परिणाम नहीं निकाल सकते कि वह कविता अच्छी होगी—उस पत्रिका के संपादक की दृष्टि में भी अच्छी होगी ! छोटी पत्रिकाओं के पक्ष में उस्ताह

की या गच्चेन की दलील दी जा सकती है लेकिन पुराने प्रविष्टि पत्र और स्वयं कवियों द्वारा संचालित पत्र भी इस मामले में कम दोषी नहीं हैं और वे घराजगता और विवेकहीनता की स्थिति को बढ़ावा देते रहे हैं।

नयी प्रवृत्तियों में विस्तार की बात अवश्य लक्षित होती है। एक हद तक वह अनिवार्य प्रक्रिया है। हम छोटी विववादी कविता के एक दौर से गुजरे हैं; विववाद की परिणति अनिवार्यतया अत्यन्त छोटी कविता में होती है—विववाद का तर्क निविड घनत्व और एकात्मिकता का तर्क है। इति तक पहुँचकर वह धेमानी हो जाता है। उसके बाद फिर अभिषा और विस्तार का दौर स्वाभाविक है। विस्तार विववाद के भलावा अमूर्तवाद की भी प्रतिक्रिया है। इसीलिए मैं ऐसा तो नहीं समझता कि यह विस्तार और तथ्य-कथन नयी काव्य-रचना की स्थायी प्रवृत्ति होगी, लेकिन ऐसा जरूर सोचता हूँ कि यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिसके मूल में एक स्थूल सामाजिकता और अर्थवत्ता की खोज है।

प्रश्न : यह सही है कि साहित्य जीवन के यथार्थ को ग्रहण करता है; लेकिन समकालीन कविता के राजनीति पर खड़े होने के कारण उसका मूल स्वर एकांगी होता जा रहा है। क्या यह स्थिति किसी मोहभंग की द्योतक है अथवा जीवन-दृष्टि में समग्रता के अभाव की परिचायक ?

उत्तर : एक हद तक इसका उत्तर इस पर निर्भर है कि आप में आग्रह की मात्रा कितनी है। अगर 'साहित्य जीवन के यथार्थ को ग्रहण करता है' तो हमारे समकालीन जीवन का यथार्थ यह है कि वह दो-एक पीढ़ी पहले की अपेक्षा राजनीति से बहुत अधिक आश्रित है। यह भी सही है कि हमसे पहले का लेखक राजनीतिक जीवन की माँगों से कतराता भागा है और अब बैसा नहीं कर सकता। कवि राजनीति को भी अपनी अनुभूति के घेरे में ले घाये तो यह उसकी जीवन-दृष्टि के विस्तार का ही लक्षण होगा, लेकिन राजनीति की बात में उलझकर और सब-कुछ भूल जाये तो यह एक नया संकुचन होगा। इसी-लिए मैंने आग्रह की बात कही। ऐसा शायद नहीं है कि कविता का मूल स्वर एकांगी हो गया है; बात इतनी ही है कि फिलहाल कवि भी राजनीति के दबाव का सीखा अनुभव कर रहा है। क्यों न करे ?

प्रश्न : आज की अधिकांश कविता के पीछे उल्लेखनीय वैचारिकता या काव्य-भाषा नहीं, बल्कि अवसरवादिता और प्रकार-दृष्टि है। आप इस कथन से किन सीमा तक सहमत या असहमत हैं ?

उत्तर : 'अधिकांश' की बात कहकर आपने छूट रगो है कि रहे। मैं अवसरवाद का ही मसूरा तिता चाहता हूँ, नहीं तो आप

मानता। यह नहीं कि अवसरवादिता और प्रचार-दृष्टि की कमी है (कमी छात्र के जीवन के किस क्षेत्र में है?), लेकिन जिस रचना में कविता बड़ी है, जो कविता है, उसके पीछे राजनीतिक धारणा जरूर हो सकती है लेकिन उसे प्रचार नहीं कहा जायेगा और वादिता तो बिल्कुल नहीं। और ऐसी कविता के बारे में यह बात भी सही नहीं होगी कि उसमें 'वैचारिकता या काव्य-भाषा की कमी' है। उदाहरण एक से अधिक भी है, लेकिन एक ही उदाहरण लीजिए, रघुवीरसहाय के नये कविता-संग्रह आत्महत्या के विरुद्ध में न ही विचार या भाषा दुर्बल है, न अवसरवादिता या प्रचार-दृष्टि है। मैं समझता हूँ कि ऐसी रचना हमारी काव्य-भाषा को समृद्ध कर और इस योग्य बनाएगी कि वह वैचारिकता का भार वहन कर सके।

**प्रश्न** - समकालीन कविता की अस्तव्यस्तता, निपेधात्मक प्रतिक्रिया या उसमें रचनात्मक अनुभव के अभाव का नये परिवेश की चुनौती से क्या संबंध है?

**उत्तर** - पहले प्रश्न के उत्तर में मैंने जो कुछ कहा है, फिलहाल वही काफी होना चाहिए।

**प्रश्न** - समकालीन कविता के रचनात्मक सवट ने आत्ममर्षण की स्थिति तो पैदा की है, लेकिन उसकी मनोभूमि के पास अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित हो जाने के लिए अपेक्षित मर्षण नहीं है। हिंदी के एक प्रतिनिधि कवि के नामे धाप क्या कहना चाहेंगे?

**उत्तर** : प्रतिनिधि की बात छोड़िये। धापका प्रश्न मैं ठीक-ठीक समझ नहीं पा रहा हूँ। जितना समझ पा रहा हूँ उसके उत्तर में यही कहना चाहता हूँ कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठा का लोभ ही गलत है, बल्कि वही अपने धापमें समकालीन कविता के बहुत से रोगों की जड़ है। धाप अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की बात कहते हैं, हमारी कविता में राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के साथ ही किना है? (बल्कि बहुत-सा ऐसा भी है जिसकी विदेश में चर्चा हो सकती है या हो भी रही है, लेकिन जिसे देश में साहित्यिक बचक ही मानना होगा।) आइसबरी के बाद विश्व के तिनिक एवाएन गुल जाने से हमसे से बहुत से मेहनत इस भ्रम के शिकार हो गये हैं कि हमें 'अंतर्राष्ट्रीय स्तर की प्रतिष्ठा' के लिए ही कुछ करना है और अपने देश या अपने साहित्य में प्रमाणित होना कोई महत्व नहीं रखता। मैं कहना चाहता हूँ कि किसी भी साहित्यिक रचना या किसी हस्तिकार के लिए अपने देश में प्रमाणित होना आवश्यक है; बिना इसके अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा हो ही नहीं सकती। भारत का वही सच अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का

की या कच्चेपन की दृष्टीय दी जा सकती है लेकिन पुराने प्रतिष्ठित पत्र और स्वयं कवियों द्वारा सप्ताहिक पत्र भी इस मामले में कम दायी नहीं है और वे धराजकता और विवेकहीनता की स्थिति को बढ़ावा देने रहे हैं।

नयी प्रवृत्तियों में विस्तार की बात अवश्य सधित होनी है। एक हद तक यह अनिवार्य प्रक्रिया है। हम छोटी विषयादी कविता के एक दौर से गुजरे हैं; विषयादी की परिणति अनिवार्यतया अत्यन्त छोटी कविता में होती है—विषयादी का तर्क निविष्ट अन्त्य और एकात्मता का तर्क है। इति तर्क पढ़ेचकर वह बेमानी हो जाता है। उसके बाद फिर अभिधा और विस्तार का दौर स्वाभाविक है। विस्तार विषयादी के अलावा समूहवाद की भी प्रतिक्रिया है। इसलिए मैं ऐसा तो नहीं समझता कि यह विस्तार और तथ्य-कथन नयी काव्य-रचना की स्थायी प्रवृत्ति होगी, लेकिन ऐसा जरूर सोचता हूँ कि यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिसके मूल में एक स्थूल सामाजिकता और अर्थवत्ता की खोज है।

प्रश्न : यह सही है कि साहित्य जीवन के मथार्थ को ग्रहण करता है, लेकिन समकालीन कविता के राजनीति पर खड़े होने के कारण उसका मूल स्वर एकांगी होता जा रहा है। क्या यह स्थिति किसी मोहभंग की द्योतक है अथवा जीवन-दृष्टि में समग्रता के अभाव की परिचायक ?

उत्तर : एक हद तक इसका उत्तर इस पर निर्भर है कि आप में आग्रह की मात्रा कितनी है। अगर 'साहित्य जीवन के मथार्थ को ग्रहण करता है' तो हमारे समकालीन जीवन का मथार्थ यह है कि वह दो-एक पीढ़ी पहले की अपेक्षा राजनीति से बहुत अधिक आक्रांत है। यह भी सही है कि हमसे पहले का लेखक राजनीतिक जीवन की माँगों से कतराता आया है और अब वंसा नहीं कर सकता। कवि राजनीति को भी अपनी अनुभूति के घेरे में ले आये तो यह उसकी जीवन-दृष्टि के विस्तार का ही लक्षण होगा, लेकिन राजनीति की बात में उलझकर और सब-कुछ भूल जाये तो यह एक नया संकुचन होगा। इसी-लिए मैंने आग्रह की बात कही। ऐसा शायद नहीं है कि कविता का मूल स्वर एकांगी हो गया है; बात इतनी ही है कि फिलहाल कवि भी राजनीति के दबाव का सीखा अनुभव कर रहा है। क्यों न करे ?

प्रश्न : आज की अधिकांश कविता के पीछे उल्लेखनीय वैचारिकता या काव्य-भाषा नहीं, बल्कि अवसरवादिता और प्रचार-दृष्टि है। आप इस कथन से किस सीमा तक सहमत या असहमत हैं ?

उत्तर : 'अधिकांश' की बात कहकर आपने छूट रली है कि अवसरवाद भी रहे। मैं अवसरों का ही सहारा लेना चाहता हूँ, नहीं तो आपकी बात मैं नहीं

रचना । यह सही कि रचना-वादिता और प्रचार-दृष्टि की कमी है (इसकी कमी प्रचार के अभाव में कम होन में है ?), लेकिन जिस रचना में यह है वह कविता कभी है, जो कविता है उसके पीछे सांस्कृतिक पारम्परिक या विद्वान्ग उम्मीदों रचना है लेकिन उसे प्रचार नहीं कहा जायेगा और प्रवर्ग-दृष्टि को विद्वान्ग नहीं । और ऐसी कविता के बारे में यह बात भी मही नहीं होती कि उसमें 'वैचारिकता या काव्य-भाषा की कमी' है । उदाहरण एक से अधिक भी है, लेकिन एक ही उदाहरण मीरजि, रघुवीरगदाय के नये कविता-मण्डल आत्महत्या के विरुद्ध में न ही विचार या भाषा दुर्बल है, न प्रवर्ग-वादिता या प्रचार-दृष्टि है । मैं समझता हूँ कि ऐसी रचना हमारी काव्य-भाषा को समृद्ध कर और हम योग्य बनाएगी कि वह वैचारिकता का भार सहन कर सके ।

प्रश्न : समकालीन कविता की घमण्डालना, निषेधात्मक प्रतिक्रिया या उसमें स्वनात्मक अनुभव के अभाव का नये परिवेश की चुनौती से क्या संबंध है ?

उत्तर : पहले प्रश्न के उत्तर में मैंने जो कुछ कहा है, किन्हाल वही काफी होता चाहिए ।

प्रश्न : समकालीन कविता के रचनात्मक सबट ने आत्मसमर्पण की स्थिति को पैदा की है, लेकिन उसकी मनोभूमि के पास अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित हो जाने के लिए अपेक्षित मघटन नहीं है । हिंदी के एक प्रतिनिधि कवि के माने आप क्या कहना चाहेंगे ?

उत्तर : प्रतिनिधि की बात छोड़िये । आपका प्रश्न मैं ठीक-ठीक समझ नहीं पा रहा हूँ । जितना समझ पा रहा हूँ उसके उत्तर में यही कहना चाहता हूँ कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठा का लोभ ही गलत है, बल्कि वही अपने आपमें समकालीन कविता के बहुत से रोगों की जड़ है । आप अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की बात कहते हैं, हमारी कविता में राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के साथक हो कितना है ? (बल्कि बहुत-सा ऐसा भी है जिसकी विदेश में चर्चा हो सकती है या हो भी रही है, लेकिन जिसे देश में साहित्यिक कचरा ही मानना होगा ।) आज़ादी के बाद विश्व के तितित एवाएक खुल जाने से हममें से बहुत से लेखक इस भ्रम के शिकार हो गये हैं कि हमें 'अंतर्राष्ट्रीय स्तर की प्रतिष्ठा' के लिए ही कुछ करना है और अपने देश या अपने साहित्य में प्रमाणित होना कोई महत्त्व नहीं रखता । मैं कहना चाहता हूँ कि किसी भी साहित्यिक रचना या किसी वृत्तिकार के लिए अपने देश में प्रामाणिक होना आवश्यक है; बिना इसके अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा हो ही नहीं सकती । भारत का वही लेखक अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा पा

सकेगा जो प्रामाणिक रूप से भारतीय लेखक हो। हमारे जो चार-छह ऐसे लेखक हैं जिन्हें 'अंतर्राष्ट्रीय' कहा जा सकता है वेकिन जिन्हें भारतीय कहना कठिन होगा, वे तब तक वास्तविक अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा नहीं पा सकेंगे जब तक प्रामाणिक रूप से भारतीय लेखक भी नहीं माने जायेंगे।

जहाँ तक मेरा सवाल है, लेखक के नाते मैं अपने पाठक से भीषा रखना चाहता हूँ। और मैं ऐसा मानता हूँ कि मेरा वह पाठक विवेकवान् भारतीय पाठक ही है। यह नहीं कि विदेशी पाठक की मैं अवहेलना करता हूँ या कि विदेशी पाठक द्वारा पढ़ा जाना नहीं चाहता। लेकिन मेरा पहला पाठक, और मेरे लिखे हुए को सच्चाई और प्रामाणिकता का निर्णायक पाठक मैं उन्हीं को मानता हूँ और बनाए रखना चाहता हूँ जिससे कि मेरा सीधा संबंध हो सकता है। जिस तरह मनुष्य की उपेक्षा करके मनुष्य ईश्वर तक नहीं पहुँच सकता, उसी तरह लेखक अपने समाज के पाठक की उपेक्षा करके अंतर्राष्ट्रीय पाठक तक नहीं पहुँच सकता। निस्संदेह सीधे-सीधे अंतर्राष्ट्रीय पाठक तक पहुँच करने का लोभ बहुत बड़ा है और उसमें स्थूल लाभ भी बहुत दीखता है, लेकिन अगर 'मनोभूमि के किसी सघटन' की आवश्यकता है तो इतनी ही कि मन को कड़ा करके इस प्रलोभन से बचते हुए सही परिप्रेक्ष्य बनाए रखा जाए—यानी जो आगे है उसे आगे और जो आसपास है उसे आसपास देखा जाए। और मेरे लिए मेरे अपने समाज का पाठक आगे है और अंतर्राष्ट्रीय पाठक आसपास।

## नयी कविता के गीत : एक प्रश्नोत्तर

प्रश्न . वात्स्यायनजी, जैसा कि आपको पता है हम लोग नयी कविता के कवियों द्वारा समय-समय पर लिखे गये गीतों का सकलन 'नयी कविता के गीत' के नाम से प्रकाशित कर रहे हैं। हमारे विचार से यह सकलन उन पाठकों और भालोचकों का भ्रम दूर करेगा जो समझते हैं कि नये कवि छन्दबद्ध कविताएँ इसलिए नहीं लिखते कि वे लिखने में असमर्थ हैं। नयी कविता में स्पष्टता और गद्यात्मकता का दोष देखनेवाली भावों को नयी कविता की कोमल और तरल भूमि के भी दर्शन होंगे। गीत हम मानते हैं कि नयी कविता के ये गीत भी गीतेतर नयी कविता के समान भाव के गहरे जीवन-सत्यो की अनुभूति और अनुकूल नयी-नयी अभिव्यक्ति की खोज की आकुलता से ऊम होने के कारण बहुत लोकप्रिय नहीं हो सके हैं। सामान्य पाठक और भालोचक इन गीतों से समझ सकेंगे कि समकालीन समाज और जनता में गीत के माध्यम से लोकप्रियता, सम्मान और धर्म पाना अधिक आसान हो सकता था उसे छोड़कर ये कवि नयी कविता (गीत और गीतेतर दोनों प्रकार की नयी कविता) के बटवाकीर्ण मार्ग पर क्यों चल रहे हैं? आगिर उनकी आन्तरिक और सर्जन-सम्बन्धी विवशता क्या है? क्या और भी इस सवाल की इस उपयोगिता और औचित्य पर ऐसा ही नहीं सोचने?

उत्तर : आप 'लोगों के भ्रम-निवारण के लिए' एक वाध्य-निराश्रित छात्रता चाहते हैं, इस सबन्ध के घोर भाव की दृष्टि में कर सकता हूँ। पर इस उद्देश्य से किये गए सबलन की उपयोगिता और औचित्य दोनों मेरी समझ में सीमित हो जाते हैं। एक तो किने आप भ्रम कहते हैं उसे मैं निराश्रित भ्रम नहीं मानता। एक हद तक यह बात मेरी समझ में मरी है कि नये कवियों में अनेक







आज का दिन २५ मई १९४७ ई. है।

आज का दिन २५ मई १९४७ ई. है।

आज का दिन २५ मई १९४७ ई. है।

आज का दिन २५ मई १९४७ ई. है।

आज का दिन २५ मई १९४७ ई. है।

आज का दिन २५ मई १९४७ ई. है।

आज का दिन २५ मई १९४७ ई. है।

आज का दिन २५ मई १९४७ ई. है।

आज का दिन २५ मई १९४७ ई. है।

। ਤੇ ਇਹ ਤੇ ਮੁਖੀ ੧੨ ਮੁਖੀਆਂ ਤੇ ਮੁਖੀ ੧੩ ਤੇ ਮੁਖੀ ੧੪ ਤੇ ਮੁਖੀ ੧੫  
 ੨੬ ੨੭ ਤੇ ਮੁਖੀ ੨੮ ਤੇ ਮੁਖੀ ੨੯ ਤੇ ਮੁਖੀ ੩੦ ਤੇ ਮੁਖੀ ੩੧ ਤੇ ਮੁਖੀ ੩੨  
 ੩੩ ੩੪ ੩੫ ੩੬ ੩੭ ੩੮ ੩੯ ੪੦ ੪੧ ੪੨ ੪੩ ੪੪ ੪੫ ੪੬ ੪੭ ੪੮ ੪੯ ੫੦  
 ੫੧ ੫੨ ੫੩ ੫੪ ੫੫ ੫੬ ੫੭ ੫੮ ੫੯ ੬੦ ੬੧ ੬੨ ੬੩ ੬੪ ੬੫ ੬੬ ੬੭ ੬੮ ੬੯ ੭੦  
 ੭੧ ੭੨ ੭੩ ੭੪ ੭੫ ੭੬ ੭੭ ੭੮ ੭੯ ੮੦ ੮੧ ੮੨ ੮੩ ੮੪ ੮੫ ੮੬ ੮੭ ੮੮ ੮੯ ੯੦  
 ੯੧ ੯੨ ੯੩ ੯੪ ੯੫ ੯੬ ੯੭ ੯੮ ੯੯ ੧੦੦

। ੧੦੦ ਤੇ ਮੁਖੀ ੧੦੧ ਤੇ ਮੁਖੀ ੧੦੨

੧੦੩ ੧੦੪ ੧੦੫ ੧੦੬ ੧੦੭ ੧੦੮ ੧੦੯ ੧੧੦ ੧੧੧ ੧੧੨ ੧੧੩ ੧੧੪ ੧੧੫ ੧੧੬ ੧੧੭ ੧੧੮ ੧੧੯ ੧੨੦  
 ੧੨੧ ੧੨੨ ੧੨੩ ੧੨੪ ੧੨੫ ੧੨੬ ੧੨੭ ੧੨੮ ੧੨੯ ੧੩੦ ੧੩੧ ੧੩੨ ੧੩੩ ੧੩੪ ੧੩੫ ੧੩੬ ੧੩੭ ੧੩੮ ੧੩੯ ੧੪੦  
 ੧੪੧ ੧੪੨ ੧੪੩ ੧੪੪ ੧੪੫ ੧੪੬ ੧੪੭ ੧੪੮ ੧੪੯ ੧੫੦ ੧੫੧ ੧੫੨ ੧੫੩ ੧੫੪ ੧੫੫ ੧੫੬ ੧੫੭ ੧੫੮ ੧੫੯ ੧੬੦  
 ੧੬੧ ੧੬੨ ੧੬੩ ੧੬੪ ੧੬੫ ੧੬੬ ੧੬੭ ੧੬੮ ੧੬੯ ੧੭੦ ੧੭੧ ੧੭੨ ੧੭੩ ੧੭੪ ੧੭੫ ੧੭੬ ੧੭੭ ੧੭੮ ੧੭੯ ੧੮੦  
 ੧੮੧ ੧੮੨ ੧੮੩ ੧੮੪ ੧੮੫ ੧੮੬ ੧੮੭ ੧੮੮ ੧੮੯ ੧੯੦ ੧੯੧ ੧੯੨ ੧੯੩ ੧੯੪ ੧੯੫ ੧੯੬ ੧੯੭ ੧੯੮ ੧੯੯ ੨੦੦

੨੦੧ ੨੦੨ ੨੦੩ ੨੦੪ ੨੦੫ ੨੦੬ ੨੦੭ ੨੦੮ ੨੦੯ ੨੧੦ ੨੧੧ ੨੧੨ ੨੧੩ ੨੧੪ ੨੧੫ ੨੧੬ ੨੧੭ ੨੧੮ ੨੧੯ ੨੨੦  
 ੨੨੧ ੨੨੨ ੨੨੩ ੨੨੪ ੨੨੫ ੨੨੬ ੨੨੭ ੨੨੮ ੨੨੯ ੨੩੦ ੨੩੧ ੨੩੨ ੨੩੩ ੨੩੪ ੨੩੫ ੨੩੬ ੨੩੭ ੨੩੮ ੨੩੯ ੨੪੦  
 ੨੪੧ ੨੪੨ ੨੪੩ ੨੪੪ ੨੪੫ ੨੪੬ ੨੪੭ ੨੪੮ ੨੪੯ ੨੫੦ ੨੫੧ ੨੫੨ ੨੫੩ ੨੫੪ ੨੫੫ ੨੫੬ ੨੫੭ ੨੫੮ ੨੫੯ ੨੬੦  
 ੨੬੧ ੨੬੨ ੨੬੩ ੨੬੪ ੨੬੫ ੨੬੬ ੨੬੭ ੨੬੮ ੨੬੯ ੨੭੦ ੨੭੧ ੨੭੨ ੨੭੩ ੨੭੪ ੨੭੫ ੨੭੬ ੨੭੭ ੨੭੮ ੨੭੯ ੨੮੦  
 ੨੮੧ ੨੮੨ ੨੮੩ ੨੮੪ ੨੮੫ ੨੮੬ ੨੮੭ ੨੮੮ ੨੮੯ ੨੯੦ ੨੯੧ ੨੯੨ ੨੯੩ ੨੯੪ ੨੯੫ ੨੯੬ ੨੯੭ ੨੯੮ ੨੯੯ ੩੦੦

੩੦੧ ੩੦੨ ੩੦੩ ੩੦੪ ੩੦੫ ੩੦੬ ੩੦੭ ੩੦੮ ੩੦੯ ੩੧੦

੩੧੧ ੩੧੨ ੩੧੩ ੩੧੪ ੩੧੫ ੩੧੬ ੩੧੭ ੩੧੮ ੩੧੯ ੩੨੦

ही हमारे वक्त की भाँति ही निराली की ओर उन्मुख हुआ। जैसे पहले सम्पूर्ण काव्य एक दृष्टि में, यथार्थता भाव में केन्द्रित शैली में वर्णित एक अभिप्रायों और प्रयोगों का एक गीतिरस समूह बन गया था, वैसा ही देन-भाषाओं के काव्य के साथ भी हुआ। सम्पूर्ण की भाँति ही इस काव्य का भी सफल और श्रेष्ठ घटक तो ऐसा था जो अपने मँजाव-नडाव, उक्ति-चमत्कार, वाचस्पत्य और गहन तथुता ('जो नावुक के तीर') और कभी-कभी शृंगारिक उत्तेजकता के कारण धाकड़ करे। किन्तु यह धाकड़ भी विदग्ध विन्यासिता का ही एक रूप था। हम प्रकार के काव्य में भी मुक्तक का ही स्थान प्रधान था। ऐसे मुक्तक को गीति मुक्तक (निरिक) कहाचिन् ही कहा जा सकता, उसमें प्रायः मदैव एक मघन नाटकीय स्थिति का ही सूक्ष्म-रेखांकित मार्मिक निदर्शन होना—प्राकृत वायाओं में भी ऐसे मुक्तकों का स्थान रहा, अन्तर यह था कि प्राकृत में तनाव-भरी स्थितियाँ समाजोत्तम समाज के वास्तविक जीवन में ली जाती थी, गीति-काव्य में वे घटना-स्थितियों और भाव-स्थितियों की वर्गीकृत पत्रिकाओं में ली जाने लगी।

रीति में परिचित, स्थितियों-अभिप्रायों, नायक-नयिकाओं और भाव-भेदों के बोध में गति रखनेवाले 'सहृदयों' के लिए यह काव्य-समूह अब भी रस दे सकता है, इतना ही नहीं, अपनी वचना और मितवाक् व्यञ्जना-गाम्भीर्य द्वारा चमत्कृत भी कर सकता है। अकथित के इतने अर्थगर्भ प्रयोग के उदाहरण मगर के साहित्य में वही-कही ही मिलेंगे कभी-कभी यह सारोत्कृष्टता और परोक्षप्रियता इतनी दूर तक चली गयी है कि काव्य की वास्तविक वस्तु मानो अनुत्तिरहित हो रह गयी है। पठित समाज में वाचिक परम्परा के बने रहने का कारण और आधार यह मुक्तक काव्य ही था अपनी मुगठित लघुता, सूक्ष्मता और उक्ति-वैचित्र्य के कारण यह काव्य आसानी से स्मृति पर अपनी छाप छोड़ जाता था अपनी मार्मिक व्यञ्जना और वैदग्ध्य के कारण उसका निरन्तर प्रचार होता रहता था। और अगर उसकी अनिदय शृंगारिकता उसे मर्यादा तोड़ने की शीमा तक ले जाती थी, तो इसमें ऐसे समाज के लिए एक अनिर्विकृत धाकड़ था जिसमें पुरुषों और स्त्रियों के जीवन और आमोद-प्रमोद की लीकें जमना-अलग-अलग होती जा रही थी। दो समान्तर वाचिक परम्पराएँ पहले भी थी, पर उस समय यह विभाजन स्तरीय था, एक धारा उपरी स्तर पर बहती थी, एक निचले स्तर पर, एक फिर दो परम्पराएँ समान्तर बनने लगीं पर उस विभाजन का आधार वर्गीय था, स्तरीय नहीं। पुरुष-वर्ग जमना ऐसे काव्य की ओर भुक् रहा था जिसका आधार बूढ़ व्यञ्जना और वैदग्ध्य था; मारी-

हम चाहें तो वाङ्मय के इस विकास को समाज के विराम के साथ जोड़ सकते हैं। एक छोर पर मौर्य और गुप्त साम्राज्यों की समृद्धि, निरालसता और प्रसारशीलता, उन साम्राज्यों के सुप्रतिष्ठित, स्वतःप्रमाण, 'नैतिक' अभिव्यक्तियों (जिनके ही विनोद के लिए काव्य की रचना होती थी और जिनमें ही वाङ्मय सुरक्षित रहता था); दूसरे छोर पर परवर्ती राज्यों की निमाजित, प्रतिस्पर्धी और प्रायः युद्धप्रस्तुत अवस्था, ऐसे राज्यों के दुर्बलता, बलान् प्रतिष्ठित और साधारणतया स्वरक्षा-निरत अभिजातवर्ग, जिनके सदस्यों के पास अपने सार्वजनिक हितों की रक्षा की चिन्ता और धकान मिटाने के दो ही साधन थे - या तो तीसरे पुरुषार्थ की धुरन्धर साधना, या शृंगार-काव्य। परन्तु अभिजात वर्ग के क्रमिक ह्रास के साथ-साथ समाज का मध्य और निम्नतर स्तर ऊपर भी उठता आ रहा था; वाङ्मय के क्षेत्र में इसका अर्थ था मौखिक काव्य के विभिन्न रूपों का विकास। इन कथन का यह आशय नहीं है कि कृति माहिर में तब तक प्रकट हो गया था। आशय इतना ही है कि महाकाव्य भी अपने को ऐतिहासिक कथा के अतिरिक्त चरित की परिधि में न समाकर भाषाव्यवहार के नायक की और कल्पना-मूलक परिस्थितियों की भाग भी बनने लगा था, और गुर्वन्त में रीतिगत शम्भु या अभिप्रायों से भागे बढ़कर तात्कालिक सामाजिक प्रभुत्व भी ठेठ मगर प्रभावशाली मुहावरों में अभिव्यक्त की जाने लगी थी।

स्वकृत शब्द, व्यक्ति के बाहर भी शब्द मात्र के रूप में स्थायी रूप से अधिष्ठान और आश्रित हो जाते हैं, जबकि विषय, अथवा रागद्वेष के बाहर उनके दोनों या दोनों की ऐसी आत्यन्तिक अभिव्यक्ति पदावित् ही होती है।

वाचक परम्परा की कविता सभी एक वस्तु नहीं होती। सभी हुई कविता वस्तु होती है। वाचक परम्परा में संप्रेषण स्वयं सहज है, सभी हुई कविता के साथ पढ़ने महयोग की स्थिति उत्पन्न करती होती है जिसमें एक संप्रेषण हो सके।

वाचक-श्रुत परम्परा में श्रोता इतर व्यक्ति है संप्रेषण एक प्रक्रिया है जो एक मजीब, प्रवृत्ति, व्यक्तित्व मूल ईश्वर की ओर प्रवहमान होती है, जिस ईश्वर की सज्जत धरणा संप्रेषण के दौरान निर्व्याघात बनी रहती है।

लिखित-पठित वाक्य की परिस्थिति में मजीब इतर सत्ता की उपस्थिति का यह बोध नहीं रहता, कवि को एक आत्मन्तर श्रोता का उद्भावन करना पड़ता है, एक इतर आत्मोपस्थिति की मृष्टि करनी पड़ती है। फलतः मुद्रित कविता किसी हद तक अनिवार्यतया एक आत्मोत्प्रेषण परायेपन की माँग करती है जिसकी वाचक-श्रुत परम्परा में कोई आवश्यकता नहीं होती।

यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि श्रुत परम्परा में भी ऐसा आत्मन्तर श्रोता अवश्य होता है, क्योंकि आत्म-श्रवण तो सृजन-प्रक्रिया का ही अंग है। यह आपत्ति नितान्त अनुचित भी नहीं होगी। पर दोनों अवस्थाओं के आत्मन्तर श्रोता अलग-अलग हैं। श्रुत परम्परा का आत्मन्तर श्रोता स्वभाव, रसि, अनुभूति और संस्कार की दृष्टि से कवि से पूर्णतया एकात्म है, वह कवि का ही प्रतिरूप है, आत्म-स्वरूप है। दूसरी अवस्था में लब्ध ऐसा मानकर नहीं चल सकता, वह जिस इतर का उद्भावन करता है वह वास्तव में इतर व्यक्ति होता है, जिसके स्वभाव, रसि, अनुभूति और संस्कारों के बारे में उसे आश्वासन कोई नहीं और परिचय अपरिचित है, जिसके बारे में वह केवल आशा या कामना कर सकता है। और हमें यह भी पहचानना चाहिए कि आधुनिक समाजों में इस आशा का आधार बहुत ही क्षीण होता है। लोकवादी चिन्तन वाक्य-व्यक्त तक पहुँचने के लिए किसी योग्यता या ग्रहण की माँग नहीं करता—सहृदयता की भी नहीं—कम से कम किसी की कविता से दूर रखने के अधिकार का दावा नहीं करता। श्रुत परम्परा का आश्रित कवि अपने को सहृदय समाज का

राष्ट्र के भी साधन हैं, इसलिए काव्य सभी कलाओं में सबसे अधिक वैध्व्य रूप हो जाता है। पद्य, धातु, वर्ण अथवा स्वर का मूर्ति, चित्र अथवा संगीत कलावस्तु से अलग और स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता जैसा कि शब्द का होता है; इसीलिए दूसरी कलाओं के उपकरणों की अपेक्षा शब्द का मूलनात्मक प्रयोग कहीं अधिक जटिल प्रक्रिया होती है और बहुत अधिक स्तरों पर कठिन्तर नियन्त्रण मांगती है। दूसरी ओर यह भी है कि शब्द की स्वायत्त अर्थवत्ता यह सम्भावना भी पैदा करती है कि कवि अनेक स्तरों पर नियन्त्रित शक्ति का प्रयोग कर सके। कविता मूर्ति अथवा चित्र की अपेक्षा कहीं अधिक स्तरों पर अर्थवत् हो सकती है और अर्थ का संप्रेषण कर सकती है—इसीलिए कि काव्यार्थ, शब्द में पहले से वर्तमान वाच्यार्थों के सुनियन्त्रित संयोजन से रचित और उत्सृष्ट नया अर्थ होता है। कविता पूर्ववर्ती अर्थों, क्रमों और कोटियों को नष्ट किये बिना एक नयी व्यवस्था में रखकर नये अर्थ, क्रम और कोटि की सृष्टि करती है : पुराने अर्थ मिटते, बदलते या स्थानच्युत नहीं होते, पर कविता रूपी नयी सृष्टि में उतना ही, वही, तभी और उसी मात्रा में सुनते, ध्वनित और स्वरित होते हैं जितना कवि नयी व्यवस्था में चाहता है।

नयी असाधारण शक्ति की यह सम्भावना अपने साथ शक्ति के स्वराधार की सम्भावना की चुनौती भी लाती है जिसका सामना कवि को करना होता है। कवि की ओर दूसरे कलाकारों की समस्या का अन्तर स्पष्ट करने के लिए पुराने वास्तविकताओं के ढग का एक दृष्टान्त लिया जा सकता है। एक युवा एक युवती से विवाह करता है, परिवार और समाज में वधू के रूप में उसे परिचिन कराता है। वधू के रूप में उसके स्वीकार किए जाने में कोई कठिनाई नहीं होती : समाज में कुछ लोग उसे कन्या के रूप में जानते भी रहे हों या स्मरण भी कर लें तो भी स्वीकृति में कोई बाधा नहीं आती। किन्तु जब उम्र बढ़ने की बात सोचिए जो एक भूतपूर्व वधू से विवाह करता है और समाज में उसे बट्ट की प्रतिष्ठा दिलाना चाहता है। इसके लिए केवल नयी परिभाषा से नहीं अधिक प्रयत्न अपेक्षित होगा : नये अर्थ की छाप इतनी प्रज्वल, इतनी वास्तव्य होनी होगी कि एक नये रूप, नयी दृष्टि का मूलन कर सके—यह नया रूप और नयी दृष्टि भी अतीत को सम्पूर्णतया मिटायेगी नहीं, पर छाया-प्रभावमय एक नये परिदृश्य में स्थावर, नये सम्बन्धों की सृष्टि करके, उसे एक नया और अभूतपूर्व मूल्य दे देगी। और ऐसा पनि यदि माने प्रत्यक्ष में माना यह भी सम्भावना है कि समाज के लिए यह वधू उम्र पहली वही अधिक प्राथम्य और समीचीन हो। और यह सत्य है।

देवी जा सकेगी। भारतीय वाचिक परम्परा का छन्द शास्त्र की दृष्टि में निरीक्षण करें तो दीखता है कि छन्द का नियंत्रण जमना अधिक बड़ा होना गया और फिर गेयता की ओर विशेष झुकाव देना गया; इस वृत्त का एकाधिक भावनात्मक हम देख सकते हैं। वैदिक छन्दों में मस्तुत छन्दों की प्रयोगा कही अधिक मौन और स्वच्छन्दता रही; फिर उत्तर काव्य काल के छन्दों में गेयता बढ़ती गयी।<sup>१</sup> यही वृत्त प्राकृतों और अनन्तर आधुनिक देश-भाषाओं में दुहराया गया। क्या इसका कारण यह हो सकता है कि छन्द की कठिनता ने वाचक को जमना गायन की ओर प्रेरित किया—कि छन्द की कड़ाई जमना वाचन से जो स्वतन्त्रता छीनती जा रही थी उसे फिर से प्राप्त करने के लिए वाचक ने गान की शरण ली? यह अनुमान ही है, किन्तु इसकी सगति आधुनिक काल में इसी क्रिया की आवृत्ति में देखी जा सकती है कुछ कवि जिस स्वतन्त्रता के लिए बंधे छन्द छोड़ते हैं, उसी को प्राप्त करने के लिए अन्य कवि संगीत का सहारा लेते हैं। अवश्य ही यह प्रवृत्ति एक पुराने प्रश्न को नया करके सामने ले आती है—कि कविता और गीत में क्या अन्तर है? यो इस प्रश्न का उत्तर बहुत कठिन या अस्पष्ट तो भारत में भी नहीं है, पर वाचिक परम्परा में कवि जिन मुविधाओं का सतिषो से उपभोग करता रहा, उन्हें एकाएक भूल जाना या छोड़ देना आसान नहीं था।

तो नयी भाषा की खोज सबसे पहले कवि और काव्य-रसिक के एक नये सम्बन्ध की पहचान थी। क्योंकि सामाजिक नया या और उससे सम्बन्ध दूसरा था, इसलिए कवि-कर्म की भूमि दूसरी हो गयी थी : कवि एक नये देश में आ गया था इसलिए एक नयी भाषा उसे सीखनी थी। कवि को नयी परिस्थिति पहचानने में थोड़ी देर लगी, पहचानने के बाद उसे स्वीकार करने की क्लेशप्रद प्रक्रिया में थोड़ा और समय लगा। उधर सामाजिक ने—रसिक समाज ने—भी कविता के साथ श्रुत-सम्बन्ध बनाए रखने का प्रयत्न किया जबकि अन्य

१. काव्य पर नाटक के—श्रव्य काव्य पर दृश्य काव्य के—प्रभाव का भी एक महत्वपूर्ण स्थान रहा; भारतीय परम्परा में नाटक स्वयं नृत्य संगीत से सघन रूप से सम्बद्ध रहा। नाटक में अभिनय (वाचिक और आंगिक) की आवश्यकताओं ने सुनिश्चित गति आदि पर बल देकर छन्द को कसने में योग दिया। साथ ही नाट्य रूपों के सहारे प्राकृत और लोक काव्य के गेय छन्दों ने भी संस्कृत काव्यवाचन पर प्रभाव डाला। छन्द की कड़ाई और गेयता के सहविकास की यह एक और झुलसा रही।

अधिकारी मानता था, समाज न मिलने पर अकेले एक थोता से (बहुभोजन-तर में) संतुष्ट हो सकता था :

उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा

कालोह्वयं निरवधिविपुला च पृथ्वी ।

पर आज कवि यही चाहेगा कि उसकी कविता-पुष्पक अधिक-से-अधिक व्यक्ति खरीदें, भले ही—पर जाने दीजिए, स्वयं कविता लिखता हूँ तो दुःख बनाएँ क्यों सामने रखूँ ! श्रुत परम्परा का कवि तो कह सकता था अरिक्तेः कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ! पर श्रुत से पठित तब आते-आते परिस्थिति कैसे बदल जाती है, यह स्पष्ट करने के लिए कविता की उक्ति के समक्ष बायरन की दो पक्तियाँ रख देने के बाद और कुछ कहा अनावश्यक हो जाता है :

इट्स ए चंड्स थिंग टु सो योर नेम इन प्रिंट :

ए बुक्स ए बुक्स, वो देयर्स नथिंग इन्ट ।

(छापे में अपना नाम देखना भी बड़ी बात है : किताब किताब ही है, फिर चाहे उसके भीतर कुछ न हो !)

: ३ :

इस विवेचन के बाद भी यह बात कुछ असंगत लग सकती है कि हिन्दी संस्कृति के पास ऐसी सम्पन्न, बहुविध और सुस्पष्ट वाचिक काव्य-परम्परा रही हो, उसे एकाएक नयी भाषा की आवश्यकता पड़ने लगे । यह दुःख धर्मार्थ ही उस समस्या के मूल में थी जिसे कवि अपने समक्ष यों रक्त सजता था : "मेरे पास एक समृद्ध परम्परा है जिसे न मैं भूला हूँ न मेरा धोना, लेकिन जो नयी परिस्थिति में न मेरे लिए उपयोग्य रही है न मेरे समाज के लिए आवश्यक या प्रयोज्य । ऐसी स्थिति में मैं कैसे निरतूँ ?" ('जैसे रचना बन्द' नहीं, 'जैसे निरतूँ ?') किंग भाषा में ? किमची भाषा में ?

इसका भी जहाँ तक कि के अन्तर्गत न केवल दाने सुकाने के पूर्ण विभाग के बाद ही ही सुक कर दिया जाता था। अर्थात् वाचिक परम्परा की कविता का निमित्त का अर्थ न केवल दान केवल एक ठोस पौरुषीय धारणा के रूप में जमा हुआ दिखाई देता था। वाचिक के इस वाचिक अनुभव में और धार्मिक अनुभव कविता के वाचिक अनुभव में विचार होता था, इसे स्पष्ट करने का ध्यान नहीं था। समझा की उलटकर करने सामने रहता। कुछ समझानीत मनुष्य कविताओं लेकर उन्हें इसी दम में दान या बर्गोड करने देगा न सीमित, न विनिष्ट आकाश, न विराम-विह्वल, न पवित्र का विचार, न छन्द-गीता का गीत, नदी कविता के लिए नदी पवित्र का वाचिक गीत भी नहीं। ऐसे दान या धारण कविताओं को 'देगने' का प्रयत्न कीजिए—और भी कठिन प्रयोग करना हो तो देखने हुए 'मुने' का प्रयत्न कीजिए, जैसा कि वाचिक काव्य के विनिष्ट रूप के गाय करने। इनके ही में गिर न चकरा जाये तो यह भी स्मरण कीजिए कि वाचिक काव्य में बहुधा एकाधिक पात्र का कथोपकथन या प्रसंगोपर भी होता था, छानने समय ऐसा काव्य भी उसी पद्धति से बर्गोड किया जाता था—कविता का कोई गीत, प्रसंग-गुणक या उक्ति-गुणक कोई विह्वल दिने बिना, कथोपकथन वाचिक काव्य में इन सबका कोई स्थान नहीं था, वाचिक की स्वर-व्यञ्जना ही ये सब जाने स्पष्ट कर देती थी।

छायाई की प्रत्युत नयी परिस्थिति में काव्य-पाठक—जिसे हम उसकी स्थिति स्पष्ट करने के लिए यहाँ 'भारम-थोता' कह सकते हैं—वाचिक परम्परा की छपी कविता में ये सब चीजें स्वयं स्पष्ट कर ले सकता था। वाचिक काव्य में इनकी पर्याप्त सुविधाएँ थीं। एक तो बेधा हुआ छन्द अपना रूप स्वयं स्पष्ट कर देता था। पवित्र-गीता स्वयं प्रकाशित हो जाती थी, यतियाँ और श्वास के विराम तक अपने को घोषित कर देने थे। (बौद्धिक पाठ-पद्धति में तो सब विराम निश्चित ही थे, और बड़े अभ्यास द्वारा वाचक उन्हें धारमसान् कर लेता था।) फिर अभिप्राय और रीतियाँ परिचित होने से और समस्याएँ भी स्वयं निराकृत हो जाती थीं। दूसरे शब्दों में छायाई के पार भी थोता अनुपस्थित वाचक को गूँथ लेता था। इस बात को ध्यान में रखें तो इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि ग्राहक पुराने परिचित काव्य की ओर ही भुक्तता था। पर कवि के लिए समस्या विकट और मजबूत थी। वह एक अपरिचित देश में आ गया था, जहाँ लोग तो बहुत थे पर उनसे सम्पर्क का साधन उसे खोजना था। जन-गमाज में से उसे पाठक-गमाज खोजना था; इतना ही नहीं, उसे अप्रस्तुत, अनुपस्थित रहते हुए भी एक परिचित स्वर बन कर अपने सामाजिक तक

साहित्य विचारों में पहले बहुत गहराई को छोड़ दिया था कि उसे विनीत हो जाने दिया था। दसदस के निम्न हिस्से-कहानी, उपासना आदि जिनमें से वे, जिसमें भी छोटी कथानक का स्थान उपन्यासकार ने से निगाहों और भुलानेवाली धारणाओं की जगह अपने मरचना अपरा कथानकाने उत्पन्न प्रतिनिधित्व हो गये थे। पद्य-परिचालन निम्नमे लगी थी और बड़ी तेजी से चलने लगता था। बने लगी थी : जिन परों में पढ़ने की परम्परा नहीं थी उनमें भी निम्न परिचालन पढ़ने लगी थी जहाँ पुराने केवल प्रयोगों के लिए भी पर में मरना नहीं। बीमारी लगी के धारम्भ की यह स्थिति थी। पर जहाँ तक कविता का प्रश्न था, उगता पहल-धारणाओं अब भी वाचिक-युक्त पद्यों में और सामूहिक-गामात्रिक परिस्थिति में ही होता था। कवि-मर्मज्ञों और वाच्य में भी प्रेम लगी के पीछे दसक तक रही : श्रोताओं की समझ हजारों तक होती थी और वाच्य वाचन भी कभी-कभी रात-भर होता रहता था—प्रभाती के साथ ही समा विसर्जित होती थी। कविता की पुरतकें विनीत तो थी, पर साहसों की रधि पुराने और वाचिक परम्परा के सुपरिचित ग्रंथों में ही अधिक थी, समकालीन वाच्य की ओर नहीं। यह केवल कविता और उसमें भी 'अप्रमाणित' कविता के प्रति संका के कारण नहीं था। कारण यह भी था कि प्राचीनतर काव्य में वे अब भी मुद्रित रूप की ओर से भी कविता का अवगण कर सकते थे, जबकि नवतर काव्य उनके लिए घटपटा, अपरिचित और कष्ट-प्राप्त था—इसके बावजूद कि इस लिखित काव्य की भाषा उनके लिए अधिक परिचित, साधारण बोलचाल के निकटतर हो सकती थी। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि अपरिचित काव्य-रूप में परिचित भाषा की उपस्थिति केवल और असमंजस ही उत्पन्न करती थी।

मुद्रण के प्रारम्भिक दिनों में वाचिक परम्परा की कविता उसी ढंग से जाती थी जिस ढंग से वह हस्तलिपियों में लिखी जाती थी। वाच्य-पत्रियों का कोई विचार नहीं था, न कोई विराम-चिह्न थे; पृष्ठ की चौड़ाई और प्रसर या टाइप के आकार के अनुसार एक-एक पंक्ति में हाशिये से हाशिये तक समुक्त संख्या में प्रसर अंदा दिए जाते थे। विराम-चिह्न केवल एक था—पूर्ण विराम के लिए खड़ी पाई—और वह छन्द के अन्त में आता था—जोकि मुक्तक काव्य में कविता का भी अन्त था। और कभी ऐसा भी होता था कि नया

की गति में अल्पकालिक परिवर्तन होते हैं, पर यह भी बात उनकी ही सच है कि वाचिक-श्रौत और चाक्षुष-पटित स्थितियों में काल-बोध का एक बुनियादी भ्रंश है जिसका गौरव पर अधिक स्थायी प्रभाव पड़ता है।

वाचिक में काल-बोध का कितना महत्व है यह हर वाचक जानता है। पर इस मन्दर्भ में काल-बोध केवल तनाव के संचय और अपचय का नियन्त्रण मात्र है; हम जिस काल-बोध की बात कह रहे हैं उसका क्षेत्र वही अधिक व्यापक है। भारतीय सन्दर्भ में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि काल की चक्र गति की कल्पना का और सघर्ष को केवल एक आभास या अस्थायी अवस्था मानने का एक परिणाम यह था कि हमारा काल-बोध पश्चिम के ऐतिहासिक कालबोध से सर्वथा भिन्न था। इसी अन्तर का एक परिणाम यह था कि हमारे नाटक में दुःस्मृत अथवा दृष्टिहीन का नितान्त अभाव है। प्राचीन भारतीय कविता में सरचना अथवा निर्मिति (स्ट्रक्चर) का एकांत अभाव था : हम यहाँ तक कह सकते हैं कि वाचिक परम्परा के लिए 'स्ट्रक्चर' की परिकल्पना बिल्कुल विदेशी है। वाचिक परम्परा में छोटे मुक्तक काव्य के प्राचुर्य का—या कि यों कहें कि महाकाव्य और मुक्तक के बीच के किसी काव्य-रूप के अभाव का—कारण है। मुक्तक एक स्वायत्त काव्य-रूप है, उसके सधु आकार में एक कसाव है जो संरचना की माँग नहीं करता, दूसरी ओर प्रबन्ध काव्य मूलतः शब्दों के जोड़ से बनता है और उसकी संरचना बड़ी शिथिल होती है। उसमें कई 'मग' होते हैं, अनेक छोटे शिखर धाते हैं पर ऐसा नहीं होता कि सधुची रचना को प्रवृत्ति अनिवार्यतया एक सुनिश्चित चरम-बिन्दु की ओर होती हो। यहाँ तक कि संस्कृत नाटक भी वहाँ नहीं समाप्त हो जाता जहाँ पश्चिमी दृष्टि से पटना पूरी हो चुकी है क्योंकि तनाव बिगड़ चुका है। तनाव का अन्त अपने-आप में सघर्ष का निराकरण नहीं है। संस्कृत नाटककार का उद्देश्य भावों का रेषण (कैपामिस) न होकर एक रम-स्थिति सम्पन्न करना था—एक सत्वीर्य परम्परा माना नहीं, एक सादात्म्य उत्पन्न करना था।

परिवर्तित काल-बोध से सरचित कविता की अवधारणा सम्भव हुई : कविता के स्थापत्य की आवश्यकता पड़ी। नि मन्देह पश्चिमी—अर्थात् दीर्घ—परम्परा में और पश्चिमी काव्य-साहित्य से हमारे बढ़ते हुए परिवर्तन में भी इस प्रक्रिया में योग दिया, इसका विवेचन यहाँ अग्रामगिक होगा।

उत्तरी के अविभाजित में काल के अभाव और प्रकार में परिवर्तन के इस

पहुँचना था ।

क्या कवि के लिए यह सम्भव होता—भगर उसकी निष्ठा उसे ऐसा प्रयत्न करने की अनुमति दे भी देती—कि वह वाचिक परम्परा का ही कवि बना रहे अनुपस्थित वाचक स्वर बनने का अभ्यास कर ले ? किसी कवि ने प्रश्न को इस रूप में अपने सामने रखा होगा या नहीं, यह तो हम नहीं जानते; पर हिन्दी-काव्य के विकास को सामने रखते हुए हम कह सकते हैं कि कुछ कवि भारत एक लम्बे रास्ते से या काफ़ी भटक कर ठिकाने पर आये । कुछ ने निराला चाहा और पाया कि वे लिख नहीं सकते; कुछ ने लिखा और पाया कि वे पढ़ नहीं सकते—पढ़ने से अभिप्राय यहाँ संतोषजनक वाचिक प्रस्तुतीकरण से है, ऐसे सामाजिक के समक्ष जिसे पूर्व-कल्पित 'भारत-श्रोता' के मुकाबले 'वाचक-श्रोता' कहा जा सकता है ।

: ४ :

कवि और सामाजिक का नया सम्बन्ध मुद्रण का केवल एक परिणाम था । और भी गहरे परिणाम थे । भाषा के भीतर भी परिवर्तन हो रहे थे । चिन्तन की और ज्ञान के ग्रहण की परिपाटियाँ भी बदल रही थी । यह बात कवि के बारे में विशेष रूप से सच थी । कविता देखने और जानने की एक नयी प्रणाली है—और नहीं तो इसीलिए कि वह नये सम्बन्धों को रचती या प्रकाश में लाती है । मौखिक-श्रोत अवस्था से वाच्य-पठित अवस्था में संक्रमण, ज्ञान से एक नये प्रकार के सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है । इसलिए अनिवार्य था कि कवि की दृष्टि और संवेदना में परिवर्तन हो । नये ज्ञान-सम्बन्ध के साथ नयी वाक्य-रचना आई जिसने छन्द ही नहीं, चिन्तन-पद्धतियाँ भी बदल दीं—और इसलिए संप्रेषण की पद्धतियाँ भी ।

बैधे छन्द से, सय और ताल से, तुक या अनुप्रास से और यति से मिलने वाली सुविधाओं का, और उन सुविधाओं के चलम्य हो जाने के परिणामों का, उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । माना प्रकार के विराम-सूचकों की सम्भावना का भी—जो कि पहचानी जाने ही आवश्यकता बन गयी—भाषा-रचना पर प्रभाव पड़ा : केवल काव्य-भाषा पर नहीं, साधारण प्रयोगों के व्यवहार में पदों की पूर्वापारता के बोध पर भी । कवि यहाँ तक कहा जा सकता है कि इनके प्रभाव से हमारी द्वाग-प्रक्रिया में भी परिवर्तन आ गया । मुण तो द्वाग-प्रक्रिया का सम्बन्ध शरीर की धार्मिकता की आवश्यकता से है, किन्तु उसकी प्रक्रिया पर हमारे धर्म का गहरा प्रभाव पड़ता है । मत भी नहीं सत्य बनने है कि मानवोन्मत्तता का धर्म प्रकार के मानव की स्थिति के मान

महान् कविता, महान् विद्वत् (कीर्ति इति) का सम्मान एक सन्तान है  
 कि काल का एक सम्मान न केवल कवि से मिल गया है बल्कि कवि ने उस मिल  
 जाने को स्वीकार भी कर दिया है, उस सीमा का प्रतिष्ठा करने की प्रार्थना  
 करने लगे ही है ।

सैद्धान्तिक विवेचन की हर कड़ी का उदाहरण विभिन्न भारतीय साहित्यों की पिछले डेढ़ सौ वर्षों की गतिविधि से दिया जा सकता है। प्रत्येक देश-भाषा में इस काल में वे परिवर्तन देखे गये जिनकी इस विवेचन से सम्भावना की जाती। प्रत्येक में कविता इसी प्रकार केवल वाचन की स्थिति में आविर्भूत होनेवाली एक सत्ता न रहकर एक वस्तु-सत्ता बन गयी। सारी प्रक्रिया को एक सूत्र में बाँधकर कहना हो तो कहा जा सकता है कि छपाई ने एक नया काल-बोध उत्पन्न करके कविता का स्वभाव बदल दिया। 'नया' काल-बोध न बहुरूपी यह भी कह सकते हैं कि निरवधि और आवर्ती काल के बदले एक साधारण और अच्युतानुसारो काल की परिकल्पना हमारे सामने उपस्थित हो गयी।

'वाचन की स्थिति में आविर्भूत होनेवाली एक सत्ता' होने के नाते बाह्य कविता सम्पूर्णतया कालजीवी होती थी; सम्पूर्णतया कालजीवी होने के नाते वह एक साथ ही काल के दो आयामों में जी सकती थी : एक वह काल जो वाचन के संप्रपण की अवस्थिति का था, यानी जिसमें कवि और गामात्रिकों का सम्पर्क था; दूसरा वह काल जिसका वृत्त कविता प्रस्तुत करती थी, यानी जिसमें कविता की वर्णित वस्तु पटित हुई थी। दूसरे शब्दों में वह एक साथ ऐतिहासिक काल और सनातन काल में, आवर्ती और रेखानुगारी काल यामों में, 'उत्तम' और 'दूरा' काल में, जी सकती थी। कवि और गामात्रिक दोनों के बोध दोनों आयामों का गामा था। कवि द्वारा सनातन काल में अवस्थित बागर्चाविवर्णनको जगतः पितरों पार्श्वतो-परमेश्वरों की वन्दना जब ऐतिहासिक काल के वर्णन में बागर्चाप्रतिपत्तये होती थी, तब जैसे कवि के लिए, जैसे ही गामात्रिक के लिए, देवनामों का सनातन और निरवधि वर्तमान और मानवों का ऐतिहासिक साधारण वर्तमान गमान रूप से गम्यवर्ण और सङ्गतीभ्य हो जाने में।

किन्तु मुद्रित कविता के वास्तविक चरण के लिए विभिन्न कविता में यह सम्भव नहीं रहता। दुसरे शब्दों में वह एक स्पष्ट आयाम या लेनी है, और एक (लेनी) के दूरा आयाम के बदले काल का एक आयाम जो लेनी है। यह कविता के दूरा आयाम का ज्ञान को चरित्र का ही परिणाम होता है कि वास्तविक कविता के दूरा आयाम का चरित्र ऐतिहासिक का और साधारण वर्तमान का ही सम्भव सम्भव है।

कविता, कविता (कविता शब्द) का अर्थ एक व्यक्ति है जिसका वह एक व्यक्ति न केवल कवि में मिल गया है बल्कि कवि ने उस दिन उसे जो अर्थ भी कर दिया है उस शीला का प्रतिफल करने की भाषा अपने होर दी है।

## आज के भारतीय समाज में लेख

अपने समाज में अपने 'रोल' की खर्चा करना लेख है : एक भूमिका भरा कर रहे होने की कल्पना होता है । पर समकालीन भारतीय समाज के संदर्भ की नहीं, अपनी हासत की खर्चा करना ही सापेक्ष भविष्यक पैगम्बरी का सपना देखता है वह वास्तव में कर

पहला सवाल तो यही उठता है कि 'समाज' में यह सवाल उठाना पाठक को केवल परिभाषा की देना नहीं है : वर्तमान परिस्थिति में विशेष अभिप्राय भंग होने, 'सोसायटी' को 'बितांग' करने का क्या कार्य मॉडेल पुरस्कार के पहले स्वीकार और फिर प्रशासन के इन शब्दों का प्रयोग हम स्मरण करें : "त्रिस्त समाज का मटी दृष्टिच झाड़ बितांग) वह इसे पार्श्व नहीं करनेगा..." क्या था ? क्या वह 'सोसायटी' को 'बितांग' करना था यदि था, तो क्या वह उसी समाज का था, और केवल : यदि नहीं, तो क्या समाज का भंग होने की बात करके वह स्फुट ही ऐसा नहीं था । पर समाज का, और समाज का वं

यही स्थिति है, यद्यपि मंदर्भ में थोड़ा अन्तर है जिसे स्पष्ट देख लेना उपयोगी होगा। पश्चिम में बौद्धिक अथवा कलाकार की समाज में शीघ्र-प्रभावितता का धर्म की गिरती हुई प्रतिष्ठा से निकट सम्बन्ध रहा। पश्चिम में रेनेसां (पुनरुज्जीवन) के साथ ही कलाकार की अप्रतिष्ठा का आरम्भ हुआ। उसकी निगति का अध्ययन इस मन्दर्भ में किया जा सकता है। पर इसी प्रक्रिया को एक दूसरे कोण से देखें तो रेनेसां से ही कलाकार के एक व्यक्ति के रूप में उत्कर्ष को भी जोड़ा जा सकता है, अर्थात् कलाकार एक ओर व्यक्ति के रूप में अधिकाधिक महत्त्व पाता गया, दूसरी ओर समाज में उसकी अवस्थिति हीनतर होती गयी। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि कला में व्यक्ति और व्यक्तित्व का विकास, ओर समाज में बौद्धिक का ह्रास, ये दोनों क्रियाएँ समान्तर चलती रही।

यह केवल विरोधाभास है, क्योंकि मूलतः दोनों क्रियाएँ अग्रगण्यार्थिन हैं। भारत के लिए इस प्रक्रिया का एक विशेष महत्त्वपूर्ण पहलू यह भी है कि जब हमारा पश्चिमी साहित्य और सभ्यता से वास्तविक निकट परिचय हुआ तब वहाँ लेखक बौद्धिक जगत् के नेतृत्व का अपना पद लेकर कलाकार (चित्रकार अथवा मूर्तिकार) के बाद दूसरा स्थान से रहा था : यानी पश्चिमी सभ्यता से अपने घनिष्ठ परिचय के दौरान हमने यही पाया कि बौद्धिक जगत् में पहला स्थान चित्रकार-मूर्तिकार का है और लेखक का पद उगमे नीचा है। इसके प्रतिकूल भारत के इतिहास और साहित्य की परम्परा में सदैव काव्य को मूल कला का पद मिलता रहा और सभ्यता-सम्बन्धी विन्नत-मनन की धारा सर्वदा कवि-मानस में ही कलाकार के जगत् की ओर बहती रही। कवि ही मनीषी था : एक ओर धर्म-गुरु और दार्शनिक, दूसरी ओर कलाकार की दुनिया के बीच मध्यस्थ के पद पर कवि धामीन था। पश्चिम में भी मध्यकाल में ऐसी ही स्थिति रही, पर हमने निकट परिचय होने तक—१८वीं-१९वीं शती तक—परिस्थिति बदल चुकी थी। वह काम कला, साहित्य और गौरव-मर्यादा सम्बन्धी बहुत से नये विन्नत-अनुशीलन का काम था, पर नये विचारों-मिडानों का विकास मेलक द्वारा नहीं, चित्रकार-मूर्तिकार द्वारा किया जा रहा था। और ये विचार या मिडान काव्य-साहित्य में प्रयुक्त होकर कवि-विश्वकला की ओर नहीं, मूर्ति-विश्वकला में निरतिष्ठ हो काव्य-साहित्य की धारा बह रहे थे, अर्थात् पारम्परिक धारा उमटी बह रही थी। इस प्रक्रिया में कवि का एक बात से स्पष्ट सम्बन्ध है कि कला व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के रूप में चली रही।

प्रश्न यह है कि कवि का सीधा सम्बन्ध क्या समाज से, सोनापदी है या कि सामाजिक से—ग्रॉडिएंस से ? यह भेद केवल शब्दों का नहीं है। व और सामाजिक का सम्बन्ध सम्प्रेषण का बुनियादी सम्बन्ध है जिसकी भी उपेक्षा नहीं हो सकती—कम-से-कम कवि के द्वारा तो कदापि नहीं। चीन काल में कवि एक अभिजात पुरुष था और एक अभिजात श्रोतृवर्ग के काव्य-निवेदन करता था : वह साधिकार माँगता था कि उसका श्रोता सामाजिक सहृदय रसिक हो। इसका भान उसे था कि इस सहृदय सामाजिक वर्ग के बाहर भी दूसरे लोग हैं ; इसलिए हम चाहे तो कह सकते हैं कि समाज का अस्तित्व तब भी था। पर कवि को समाज से प्रयोजन नहीं था, सामाजिक वर्ग से ही था—ग्रॉडिएंस से था। उसे यह भी ज्ञात था कि एक दूसरे (उसकी दृष्टि में निम्नतर) स्तर पर, लोक-स्तर पर, काव्य प्रस्तुत करनेवाले दूसरे कवि भी हैं जिनका अपना सामाजिक वर्ग है। लोक-सामाजिक के सम्मुख दोनों प्रकार के कवि एक ही समाज के अंग थे, एक ही 'सोनापदी' को 'बिना' करते थे; पर वास्तव में ये दो अलग संसार थे और समाज अथवा सोनापदी केवल एक पारिभाषिक अवधारणा थी जिसकी सत्ता नहीं थी, या थी भी तो न शास्त्रीय कवि और उसके अभिजात श्रोतृवर्ग के लिए प्रयोजनीय थी न लोक-कवि और उसके लोक-सामाजिक वर्ग के लिए।

अगर सभी बसावो का मूलोद्गम यज्ञ सत्स्था से हुआ, तो इस बात का अपना विशिष्ट महत्व है। पारितोष में भूत को पुन प्रस्तुत अथवा पुन-रुज्जीवित किया जाता था। और धनी के इस धातान में सभी प्रकार के शिल्पी-बसावो को अपना बीजल प्रदर्शन करने का अवसर मिलता था—कवि, नाटककार, नट, नर्तक, बाजीगर और मुक्कन, वृद्ध, नाग, बहेनिये, मातृकार, धीवर, देवट सभी समाज में भाग लेते थे।

१. यज्ञ में गुत्तरने संघ पर सामीन घरबपुं रहना है भुगति धातन।  
भूनेपु इम यत्रमान धम्पुह। दे० शतपथ ब्राह्मण ११.४.१
२. दे० शतपथ ब्राह्मण, ऊपर उल्लिखित, तथा शिल्पी-धीनपुत्र

एक व्यक्ति को नए मुद्रावरे में था, हमारी नए वाचिक-भूत परिस्थिति के लिए—सांस्कृतिक श्रद्धा के लिए—रचा गया था। 'बच्चन' अपने नही थे, औरों ने भी ऐसी रचना की और गंगा में प्रस्तुत की, पर भाषा, मुद्रावरे, वाचिक परम्परा और गमकानीन स्थिति का सर्वोत्तम और सर्वाधिक सफल परिपाक उनकी कविता में हुआ। उमका सम्मान भी उँगा ही हुआ। 'बच्चन' उस काल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि रहे, लोकप्रियता और गरिमा का जो विरोध घट्टा देगा जाता है उमका कोई प्रश्न ही उनके सामने नहीं आया।

परन्तु एक पीढ़ी बाद? 'बच्चन' अब भी लोकप्रिय है, पर आज उनकी लोकप्रियता की भिन्न वह काव्य नहीं है जो वह अब लिख रहे हैं, बल्कि है जो उन्होंने पश्चिमी कवि पढ़ने लिया था। आज भी लोग उनसे उनकी कविता सुनना चाहते हैं, पर इधर की निम्नी कविता नहीं, उनका भावहीन कविता के लिए रहना है जो उनकी पुरानी परिचित है। यह नहीं कि वह कविता इधर की रचनाओं से श्रेष्ठतर है—यम से कम सदैव तो नहीं!—पर वह कविता कान के लिए, वाचिक परिस्थिति के लिए लिखी गई थी। श्रोताओं से अधिकतर मुगल होगे, विद्वान् होगे, विदेशी काव्य से—विशेषतया अंग्रेजी काव्य से—परिचित होगे, अंग्रेजी कविता के पुस्तकों से ही पढ़ कर ग्रहण करने होगे और पढ़ना ही पसन्द करले होगे—ब्रितानी कवि द्वारा सुनाई गयी आधुनिक अंग्रेजी कविता उनके कानों को कष्टप्राप्त जान पड़ेगी। पर 'बच्चन' की कविता के सुनना ही चाहेंगे, और वही कविता जो वाचिक परिस्थिति के लिए लिखी गयी थी। इस स्थिति को जरा कवि की ओर से देखिए कवि ने तो छपाई-युग के तर्क को स्वीकार कर लिया और उसी के अनुरूप कविता लिखने लगा, पर सामाजिक की स्थिति में द्वेष रह गया। एक हद तक इस द्वेष को इस बात से भी जोड़ा जा सकता है कि शिक्षित पाठक की शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रहा, पर एक हद तक ही, और फिर कारण जो भी रहा हो, कवि और गृहीता के बीच जो बाधा खड़ी हो गई वह तो हो ही गयी।

आधुनिक भारतीय भाषा और अंग्रेजी के बीच जो खाई है, वह हम बाधा को और बढित बनाती है; इसकी चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं। अंग्रेजी में शिक्षित-दीक्षित होकर, अंग्रेजी-परिचित पाठक-वर्ग के लिए भारतीय भाषाओं में ही रचना करने का निर्णय एक गम्भीर निर्णय है, एक जागृत विवेक द्वारा

निरवधि, निरन्तर प्रवहमान, आवर्ती काल से सावधि, खंडित और प्रदात काल तक की यात्रा काव्य की पारम्परिक परिकल्पना से प्राधुनिक परिभाषा तक की यात्रा है। एक आयाम से दूसरे में संक्रमण, परम्परा में वास्तविकता में प्रवेश है, जिसके साथ सामाजिक से अलग समाज की प्रयोजनीयता के सामने आ जाती है। छायावाद और प्रगतिवाद का इस सन्दर्भ में महत्व छायावाद ने यह पहचाना कि कविता अब वैयक्तिक अभिव्यक्ति होती रही है। प्रगतिवाद ने यह पहचाना और साग्रह कहा कि समाज एक नया है। हिन्दी काव्य-विकास में इन भान्दोलनों का यह धन-पसंदा है। समान्तर विकास अन्य भारतीय भाषाओं में भी हुआ। शास्त्र और निर्माणात्मकता में रहने के बदले हम एक सुगीत और व्यक्तिपरक आयाम में आ लगे; इसकी पहचान के साथ एक नयी भाषा और नये मुहावरे की आवश्यकता हुई जो हमें छायावाद ने, और प्रमुखतः 'निराला' तथा सुमित्रानन्दन ने दिया। यह नया मुहावरा व्यक्तिगत था; उन्होंने यह सम्भव कर दिया कि व्यक्तित्वपरक, अर्थात् मुद्रणीय कविता लिखी जा सके। उन्होंने कविता के व्यक्तित्व की सत्ता दी, जिसका परम्परा में न स्थान रहा था न महत्व। प्रकार प्रगतिवाद ने हमें सामाजिक के बदले एक वास्तविक समाज की दी। छायावाद ने अन्तर्मुख होकर एक वास्तविक व्यक्ति के भीतर प्रगतिवाद ने बहिर्मुख होकर एक वास्तविक समाज की ओर ताका। इन भान्दोलनों से यह दोहरा सत्ता-बोध—या परवर्ती मुहावरे का आगमन अभिव्यक्ति-बोध अथवा अस्तित्व-बोध पाकर ही हमारे लिए वैसी वास्तविकता सम्भव हुई जैसी हमने की। यह ध्यान बात है कि सत्ता-बोध अपने-आप दिग्गज-बोध नहीं है, और अन्तर्मुख या अन्तर्गत उगते मिस जाना उन्नी नहीं वह एक धन्य अभिप्राय है।

वाक्य में विभिन्न काव्य रूप की यात्रा की बात हम पहले कर चुके हैं। इस यात्रा में उत्पन्न होनेवाली मन्द-स्थितियों का, उनके अन्तर्जातीय पान का और इनसे उत्पन्न नयी मन्त्रवादी का उत्पन्न उद्गम ही काव्य का अन्तर्गत हो जाता है। मन्त्रमन्त्र-युग में, यह लोग कविता नहीं पढ़ते, सुनते हैं।

## विज्ञान और हम

आज यह कहना कि 'विज्ञान ने आधुनिक जीवन में एक क्रांति ला दी है' मानो पिट्टी का फिर से पीमना है। पर हठ बरके घोड़ा-मा भी आगे सोचने पर दीमना है कि बान बैगी स्वयमिद्ध नहीं है कुछ स्पष्टीकरण मांगती है—घोर स्पष्टीकरण के साथ कुछ सीमा-निर्देश भी। पहले तो यह कि आधुनिक जीवन में क्रांति नहीं आयी, जीवन में क्रांति आने से ही वह आधुनिक हुआ है। दूसरे यह कि अपनी विश्लेषण-पद्धति द्वारा पहले यह मिद्ध करके कि कुछ भी वह नहीं है जो वह दीमता है या माना जाता रहा है, कि सब-कुछ किन्ही छिपी हुई, अन्धी पर दुनिवार शक्तियों द्वारा संचालित है जिन्हे केवल विज्ञान नियन्त्रित कर सकता है, अब विज्ञान वहाँ पहुँच गया है जहाँ वह मानो कह रहा है कि इन शक्तियों को नियन्त्रित करने की जिम्मेदारी विज्ञान की नहीं है। अर्थात् क्रांति द्वारा यह प्रमाणित करने में ही, कि एक प्राकृतिक नियम न्याय या धर्म है जिसके बाहर कोई या कुछ नहीं जा सकता, विज्ञान ने हमें एक न्यायातीत, धर्म-रहित सम्पूर्ण नियम-विहीनता के अतल गत्तों के किनारे ला खड़ा कर दिया है।

क्या यही विज्ञान की यात्रा का लक्ष्य या घोर हो सकता था ? क्या यही विज्ञान की खोज है ? आज वैज्ञानिक भी इसका उत्तर 'हाँ' में देते सकोच करेगा, और यह विडम्बना है कि जो पहले विज्ञान के बटु आलोचक थे वे विज्ञान से इतने अलग-थलग हो चुके हैं कि वे भी आज विज्ञान पर यह आरोप लगाने सकुचायेंगे।

विज्ञान की यात्रा के कुछ मील के पत्थरों की ओर हम देख सकते हैं। न्यूटन और उसके ऊर्जा सम्बन्धी मिद्धान्तों ने ईश्वर को अपदम्ब कर दिया :

विज्ञान की जो खोरी बहुत गिना गयी है, उस के कारण यह तो है मानने की बाधा है कि कम्प्यूटर के द्वारा कोई कविता बनाई जा सकती है 'कोई' कविता। कोई गद्य भी बनाया जा सकता होगा। लेकिन दरम्यान में है तो पूरी गणना करने के लिए कि कम्प्यूटर जो बनाता है और कवि जो रचता है उसमें अन्तर क्या है। कम्प्यूटर तो मशीनी चीज है, पर किम्वदन्ती है कि वह धाड़ून है उस मर्क की गुपराई-गुपराई, उसके गीतों की चर्चा उन्नीसवीं शताब्दी के मद्रास भी कर रहे थे। ध्यान रहे कि कविता की वास्तविकता तो सभी पहलुओं की मशीनी चीज है। हम मानेंगे कि उसमें वास्तविकता हो सकती है, गीतों हो सकती हैं। पर अभी तक कम्प्यूटर द्वारा कविता के निर्माण का प्रयास, यह स्मरण रखना आवश्यक है कि किसी प्रायोगिक कविता पहले से ही किम्वदन्ती के आधार पर बनती है। कम्प्यूटर के हर निर्णय का आधार ऐसे निर्णयों की एक समूची बड़ी है जो पहले से तय जा चुके हैं। कवि तो रचना एक दृष्टि की सृष्टि है : विचार और धारणा वही सूत्र-प्रक्रिया का ही संग्रह है। कवि-कृति पहले से तय जा चुके निर्णयों पर आधारित निर्माण नहीं है। और यह कम्प्यूटरों के सामर्थ्य के परे की बात है। क्योंकि यंत्र पूर्ण निश्चित विकल्पों के आधार पर ही काम कर सकता है, कवि संज्ञक-कर्म के द्वारा विकल्प और धारणा करता है। इस अर्थ में कवि वास्तविकता की सृष्टि करता है। कम्प्यूटर केवल उसे प्रस्तुत करता है। जब-जब अच्छा काव्य रचा जाता है, तब-तब यह सर्जनात्मक धारणा होता है; अर्थात् तब-तब मानवता का नकारण बल्कि पुनः सर्जन होता है। और अनवरत नवीकरण की यह घटना नहीं सम्भावना ही आज साहित्य की प्रयोजनीयता का प्रमाण है। अगर किसी को आज लेखक के 'रोल' का पद दिया जा सकता है तो इसी : कि मानव मात्र के अविराम नवीकरण की सम्भावना हमारे सामने प्रस्तुत रहती है।

वीथ, नैतिक, सांस्कृतिक और शब्द का डर न हो तो आध्यात्मिक मूल्यों का तदनुरूप विकास नहीं हुआ। यह अन्तर्मेख ही बहुत से 'आधुनिक' रोगों और वैषम्य की जड़ है; बल्कि स्वयं एक रोग है। पर यह भी 'साधारणतया' ही सही है, जैसे कि विज्ञान सम्बन्धी स्थापनाएँ। वास्तव में अध्यात्म तत्त्व में भी गहरा परिवर्तन हुआ है। पश्चिम में धर्म की एक—और हमारे जाने सर्वोत्तम—आधुनिक परिभाषा है 'टोटल बनसर्न' सब मूल्यों का मूल-स्रोत किसी बाहरी (या अन्तर्बाह्य भी) आत्यन्तिक स्वतः प्रमाण सत्ता को न बनाकर, जो कुछ है उसके प्रति चेतना के सम्पूर्ण लगाव को ही बनाना, जैसा कि ईसाई धर्मनिरपेक्ष पॉल टिलिय ने किया, विज्ञान से कदम मिलाकर चलते हुए विज्ञान के मूल्यों में अलग धर्म के (अतः आधुनिक नैतिकता के) मूल्यों को प्रतिष्ठित करना है। और धर्म के अथवा श्रद्धा के, मूल्य कुछ हो सकते हैं तो विज्ञान में अलग ही हो सकते हैं : धर्म और विज्ञान की कसौटियाँ न एक-दूसरे को अच्छा साबित कर सकती हैं, न झूठा—दोनों के जीवन-वृत्त अलग-अलग हैं और उन बिन्दु पर केवल स्पर्श करते हैं जिन पर हम खड़े हैं।

यह नया 'सम्पूर्ण लगाव' उस 'सम्पूर्ण प्रतिबद्धता' की पट्टी की है जो हमें अपने वर्तमान सचट में बचा सकती है, जो अचेतन को पृथक् या टूट नहीं होने देगी, न अपरिचित को परायापन, जिसके कारण हम अपने या धर्म के समाज की हर नैतिक प्रतिज्ञा को अमान्य करने भी अनैतिक या प्रतिनैतिक या नीति-निरपेक्ष होने की छूट नहीं पा सकेंगे। बल्कि यही छूट चाहने भी नहीं, क्योंकि वह चाहना अपने में छुट्टी पाता चाहता होता—और आधुनिकता का राज-रोग यही है कि हम अपने किसी एतान्त या आध्यात्मिक अस्तित्व का दावा साबित करने के लिए ही किसी समाज-प्रतिबद्ध अस्तित्व को नकारना चाहते हैं।

यह सम्पूर्ण लगाव हमसे क्या कह सके, या हम उसे फिर स्थापित कर सकें, तो विज्ञान-साहित्य आधुनिक जीवन में हम आश्रित न होने सम्पूर्ण वैज्ञानिक भविष्य हमारे लिए एक अमान्य दुःखान्त न बनेगा। हम मानते हैं कि इनमान्य बुनियादी तौर पर अस्वीकार्य है अगर परिस्थितियाँ उसे अस्वीकार करने देनी, हम पहचानते हैं कि आनन्दपूर्ण के दुःखान्त में अपने बचने का सम्भव हो रहा है कि परिस्थितियाँ इनमान्य को दुःख दाने को अस्वीकार न कर, कि अगर वह सम्भव अस्वीकार्य है तो अस्वीकार दान कर सके, जो सम्भव है वह सम्भव के रूप में प्रकट हो सके।



की प्रतिभा का महारा लेक रही प्रतिकृतिन होती या हो सकती है। मानवैतर सभी प्राणी, जिन्होंने प्रतीक-मृष्टि की यह प्रतिभा नहीं पायी है, एक सीमित जीवन ही जी सकते हैं। उनका जीवन स्थूल जगत् की गोचर अनुभूतियों तक ही सीमित रहता है। और वे अनुभूतियाँ भी एक से दूसरे को सम्प्रेष्य नहीं होती, क्योंकि सम्प्रेषण का कोई परिपक्व माधन उनके पास नहीं है। सकेतो का एक स्थान उनके जगत् में है—जैसे मूड के एक पशु का डर सकेत द्वारा पूरे मूड को भयानुर कर दे सकता है—पर भाषा के समक्ष उनके पास कुछ नहीं है, क्योंकि भाषा का आधार प्रतीक है और उसका आविष्कार या प्रवर्तन पशु-जगत् में नहीं होता। भाषा से सम्प्रेषण का आरम्भ है, उमी से अनुभव के आदान-प्रदान का आरम्भ होता है, ज्ञान का आरम्भ होता है, परम्परा का आरम्भ होता है, विद्या का आरम्भ होता है, विज्ञान का आरम्भ होता है। और विकास की इस सारी शृंखला की पहली कडी है प्रतीक। वही मनुष्य को स्थूल की जगह से मुक्त करता है, प्रकृति की पकड से मुक्त करता है। कहा है सा विद्या या विमुक्तये—विद्या वह है जो मुक्ति का निमित्त हो—और विद्या का आरम्भ प्रतीक-मृष्टि से होता है।

लेकिन स्थूल के बन्धन से, प्रकृति से, मुक्त होने का क्या अर्थ है? यह नहीं कि मानव-प्राणी प्राकृतिक नियमों से मुक्त हो जाता है या प्रकृति से बाहर चला जाता है। मुक्त होने का अर्थ यही है कि उसकी सम्भावनाएँ निर्वन्ध और पूर्वकल्पनातीत हो जाती हैं अनन्त जगत् के सारे क्षितिज उसके समक्ष खुल जाते हैं।

इसी बात को एक दूसरी तरफ से देखकर भी समझा जा सकता है।

किसी भी जीव की शरीर-रचना को देखकर उसके सम्भाव्य जीवन का काफी गहरी चित्र खींच ले सकते हैं। बल्कि पूरा शरीर न हो तो कुछ अवयवों से हो हम उसकी जीवन-सम्भावनाओं की आकार-रेखा प्रस्तुत कर ले सकते हैं। जैसे आदिम जीव-वैज्ञानिकों को लीजिए उसकी रचना ही हमें बता देगी कि यह प्राणी आहार ग्रहण कर सकता है, पनप सकता है और नाति-वृद्धि कर सकता है। स्नायु-तन्त्र और अस्थि-पिंडर की अनुपस्थिति हमें बता देती है कि क्या-क्या वह नहीं कर सकता। इसी प्रकार जमरा कीट-मर्ग, रेंगने और दौड़ने वाले प्राणी, शील और गर्म रक्त वाले प्राणी, रीढ़ के खल सड़े हो गइने वाले प्राणी, विभिन्न प्रकार के स्नायु-तन्त्रों या अस्थि-पिंडों वाले प्राणी के जीवन को हम कल्पित कर सकते हैं। मानव-मूर्त बनोसम तक यह अनुमान-परम्परा मरम्मतपूर्वक जारी जा सकती है। 'हरि' का एक विशेष अर्थ (सुन्दर) लेकर हम यह कह सकते

## मानव : प्रतीक-स्रष्टा

पशु और मनुष्य में भेद करते हैं तो इस बात पर बल देते हैं कि मनुष्य विवेकशील प्राणी है। पश्चिमी मुहावरे में—जैसे कि मानव के लातीनी नाम होमो सेपिएंस में—तर्कना शक्ति पर प्राग्रह है तो भारतीय परम्परा में धर्म पर : धर्मों हि तेषामधिको विदेषो। पर तर्कना तो स्पष्ट ही विवेक-बुद्धि का दूसरा नाम है; और धर्म पर बल देना भी वास्तव में विवेक पर ही बल देना। क्योंकि अपने स्वभाव की मही पहचान ही धर्म है।

और विवेक मानव के लिए एक चुनौती है एक स्थायी और सहजमान चुनौती, जो इससे प्रबलतर ही होती है कि वह भीतर से प्रकट होती है, किसी बाहरी सत्ता द्वारा नहीं प्रस्तुत की जाती।

चुनौती, आहत व्यक्ति पर एक उत्तरदायित्व डालती है। यदि विवेक की चुनौती मनुष्य की सहजात है, मानवत्व की प्रतिज्ञा है, तो उस उत्तरदायित्व के निर्वाह की, चुनौती के भुगतान की, ऐसी ही क्षमता भी उसमें होनी चाहिए—ऐसी ही समान्तर सत्ता या प्रतिभा, जिसे भी हम सहजात कह सकें।

और ऐसी सत्ता, ऐसी सम्भावना मानव में है : विवेक का समकक्ष ही एक दूसरा गुण भी उसमें है जो पशु और मनुष्य में भेद करने का उतना ही निर्विकल्प आधार है।

मानव के ल विवेकशील प्राणी—होमो सेपिएंस—ही नहीं है। पशु और मानव में इतना ही मौलिक अन्तर यह है कि मानव प्रतीक-स्रष्टा प्राणी है—होमो सिम्बॉलिकम्। मानव प्रतीको की सृष्टि कर सकता है, यह बात उसे पशु से और भी महत्वपूर्ण ढंग से अलग करती है, और यह उसके सारे सांस्कृतिक और प्रातिभ विकास का आधार-विन्दु है। विवेक की प्रतिभा भी प्रतीक-सृष्टि

को प्रतिभा का सहारा लेक रही प्रतिकलित होती या हो सकती है। मानवैतर सभी प्राणी, जिन्होंने प्रतीक-मृष्टि को यह प्रतिभा नहीं पायी है, एक भीमिन जीवन ही जी सकते हैं। उनका जीवन स्थूल जगत् की गोबर अनुभूतियों तक ही भीमिन रहता है। और वे अनुभूतियाँ भी एक से दूसरे को सम्प्रेष्य नहीं होती, क्योंकि सम्प्रेषण का कोई परिपक्व साधन उनके पास नहीं है। मत्तों का एक स्थान उनके जगत् में है—जैसे झुंड के एक पशु का डर मत्तों द्वारा पूरे झुंड को भयानुर कर दे सकता है—पर भाषा के समक्ष उनके पास कुछ नहीं है, क्योंकि भाषा का आधार प्रतीक है और उसका आविष्कार या प्रवर्तन पशु-जगत् में नहीं होता। भाषा से सम्प्रेषण का आरम्भ है, उमी में अनुभव के आदान-प्रदान का आरम्भ होता है, ज्ञान का आरम्भ होता है, परम्परा का आरम्भ होता है, विद्या का आरम्भ होता है, विज्ञान का आरम्भ होता है। और विज्ञान की हम सारी भ्रमना की पहली कड़ी है प्रतीक। बड़ी मनुष्य को स्थूल की जकड़ से मुक्त करता है, प्रवृत्ति की पकड़ से मुक्त करता है। कहा है सा विद्या या विमुक्तये—विद्या वह है जो मुक्ति का निमित्त हो—और विद्या का आरम्भ प्रतीक-मृष्टि में होता है।

मैक्सिम् ग्युस के बन्धन में, प्रवृत्ति में, मुक्त होने का क्या धर्म है? यह नहीं कि मानव-प्राणी प्राकृतिक नियमों में मुक्त हो जाता है या प्रवृत्ति में बन्धन घटा जाता है। मुक्त होने का धर्म यही है कि उसकी सम्भावनाएँ निरंतर और पूर्ववर्णनातीत हो जाती हैं। धन्य जगत् के साथ निरंतर उसके साथ जुड़ जाते हैं।

इसी क्षण को एक दूसरी तरफ से देखकर भी समझा जा सकता है।

बिगो भी जीव की दारीर-रचना को देखकर उसके सम्भाव्य जीवन का काफी गहरी बिच सीख ले सकते हैं। बर्नार्ड शूज़ दारीर में जो कुछ घटता है वो ही हम उसकी जीवन-आभावनाओं की आकृति बना सकते हैं। जैसे आदिम जीव-वर्तिका को सर्वप्रथम उसकी रचना हो चुक चुकी थी कि वह प्राणी आहार ग्रहण कर सकता है, उसके सम्भाव्य जीवन की सीख ले सकते हैं। आधुनिक और आधुनिकतर को आधुनिक-जीवन में हम देखते हैं कि आधुनिकता की सीख ले सकते हैं। इसी प्रकार हमें बर्नार्ड शूज़ के जीवन की सीख ले सकते हैं। आधुनिक जीवन के सम्भाव्यता को हमें बर्नार्ड शूज़ के जीवन की सीख ले सकते हैं। आधुनिक जीवन के सम्भाव्यता को हमें बर्नार्ड शूज़ के जीवन की सीख ले सकते हैं। आधुनिक जीवन के सम्भाव्यता को हमें बर्नार्ड शूज़ के जीवन की सीख ले सकते हैं।



नैतिक जड़ प्राणी के मर्यादक तन्त्र और उसके कर्म-प्रेरक तन्त्र के बीच में एक प्रतीक-योजना तन्त्र था जाना है, तब उसके अनुभव 'गुद' नहीं रहने। और इसमें यह निहित है कि प्राणी अपने अनुभव को मही ढग से न भी गमझे जो छाप उसका मर्यादक तन्त्र ग्रहण करता है उसे गमझने में भूल करे और फलतः कर्म-प्रेरक तन्त्र को गलत निर्देश दे। यानी मानव ही पहला प्राणी है जो अनुभव के क्षेत्र में गलती कर सकता है। यह 'गलती कर सकने' की सम्भावना उसके मर्यादात्मक सम्भावनाओं की और उसकी वरण की स्वतन्त्रता की माप भी है। प्राणि-जगत् में केवल मात्र मनुष्य सम्य और ससृजन हो सकता है, और केवल मात्र मनुष्य गलतियाँ कर सकता है।

मैंने आरम्भ में कहा कि उत्तरदायित्व की बात कर देने के उपरान्त सम्भावना की बात भी करनी चाहिए और उसी की ओर प्रवृत्त हुआ। अब कहना चाहता हूँ कि यह जो सम्भावना की बात मैंने की है, वास्तव में यह भी जिम्मेदारी की ही बात है। स्वतन्त्रता सबसे बड़ी जिम्मेदारी है, क्योंकि बिना स्वतन्त्रता के जिम्मेदारी ही नहीं है : अगर मैं स्वतन्त्र कर्मी नहीं हूँ, अगर वरण की स्वतन्त्रता मुझे नहीं है, तो अपने कर्म की जिम्मेदारी भी मुझ पर कैसे धाती है ? स्वतन्त्रता इतनी बड़ी जिम्मेदारी है, नैतिक उत्तरदायित्वों की आधार-शिखा है, इसीलिए अधिमक्ष्य मनुष्य वास्तव में स्वतन्त्रता से डरते हैं बंधी हुई लीक में ही उन्हें सुविधा और सुरक्षा दीवती है। यही शिक्षा की भी सबसे बड़ी परीक्षा होती है। क्या हमारी शिक्षा ने हमें अपनी स्वतन्त्रता स्वीकार करना सिखाया है ? उतना बल दिया है ? उतना साहस दिया है ? उतना मकल्प दिया है ? आत्मनिरीक्षण का उतना निर्ममत्व दिया है ?

मानव प्रतीक-भण्डा है, इसलिए अनन्त सम्भावना-सम्पन्न है ; मुक्त है। यह सम्भारवान् मानव की नियति में निहित है स्वतन्त्रता से उसका छुटकारा नहीं है। इसमें क्या हमें चिन्ता का कारण दीखेगा—चिन्ता का, भय का, बेगानगी का, संश्राम का—उन सब अस्वस्ति भावों का जिनकी इतनी चर्चा आज के माहित्य में होती है ? या इसमें हम पायेगे स्कूनि, प्रेरणा, बल, उत्साह, आशा का उल्लास ? यह प्रश्न एक देहरी है, देहरी पार करने-न-करने प्रश्न का उत्तर हमें पा लेना होता है।

क्योंकि इस देहरी के पार की दुनिया प्रतीकों की दुनिया है—जैसे कि देहरी के इस पार भी प्रतीकों की ही दुनिया रही। पर इस पार की दुनिया में प्रतीक हमारी शिक्षा के, सम्भार के, अनुशासन के, यत्न-गचय के साधन थे, इस पार प्रतीकों ने हमें बनाया ; उस पार के प्रतीक परीक्षण के, तनाव के, शक्ति

के, व्यय के साधन होने, उस पार के प्रतीक हमें कैसे और तोड़ना चाहेंगे। प्रतीकों का फिर सहारा लेकर कहा जाय कि इस पार प्रतीकों की आश्रम वाटिका थी, उस पार प्रतीकों का जंगल होगा। उदाहरण ले लें : आश्रम भी प्रतीक है, मातृभूमि भी प्रतीक है, राष्ट्र भी प्रतीक है, भंडा भी प्रतीक है। जाति और वर्ण प्रतीक हैं, छुआछूत प्रतीक है, दाढ़ी-चोटी प्रतीक हैं, तिलक और सिन्दूर, फूल और चन्दन, घोती और पैट, टोपी, टोप और पगड़ी, राज्य-भाषा, मातृ-भाषा, बोली—ये भी प्रतीक हैं। लाल रंग, पीला रंग, केसरी, हरा, काला, सफेद—ये भी प्रतीक हैं। बेलों की जोड़ी, गाय और बछड़ा, दीपक, भोपड़ी, नाव—ये भी प्रतीक हैं। कुछ प्रतीक स्थायी या दीर्घकालिक है, कुछ केवल तात्कालिक महत्त्व के हैं, कुछ केवल प्रादेशिक या आचलिक। कुछ प्राकृत प्रतीक हैं, जो इसलिए 'शाश्वत' भी माने जा सकते हैं; कुछ पारम्परिक हैं, इसलिए एक स्थिरता और गाम्भीर्य रखते हैं; कुछ तदर्थ हैं और उनमें जब-तब मनमाना अभिप्राय भरा जा सकता है। लेकिन सभी में शक्ति है, निर्माण और कलह के बीज हैं : प्रतीकों के लिए युद्ध लड़े जाते हैं, जानियाँ बनती-मिटती हैं। संस्कृतियों के उदय-विलय का इतिहास बहुत कुछ उनके पूजित प्रतीकों के विकास-ह्रास का इतिहास होता है। और सब-के-सब प्रतीक हैं हमारी अपनी सृष्टि—क्योंकि मानव-तर कोई प्राणी प्रतीक-मण्डा नहीं होता। यानी प्रतीक हमने बनाये हैं, वे हमारी सुविधा के साधन और प्रमाण हैं—पर साथ ही हमारे जीवन का हर कदम प्रतीकों से बंधा है, प्रतीकों द्वारा नियन्त्रित है। प्रतीक की सृष्टि से हम मुक्त हुए : तब से यह सकट हमारे सामने है कि कहीं हम प्रतीकों के गुलाम न हो जायें।

आइए, चलिए देहरी के पार : उस खुले सतार में जहाँ ही उस सारा में गच्छा साक्षात्कार हो सकता है जो मानव की उपलब्धि भी है और ऋण भी, सृष्टि भी है और नियति भी। या कि यो कहें नर का घन है और नारायण का ऋण है : इस घन का व्यय ही इस ऋण का शोध है और मुक्ति का मार्ग दिगन्तगामी मार्ग।

---

कानोडिया महाविद्यालय, उदपुर के दीक्षाञ्ज भाषण से संश्लेषित।

## काल का डमरु-नाद

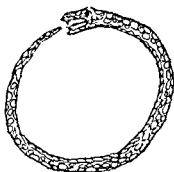
परोक्षप्रिया हि देवा. प्रत्यक्षद्विषः — मनुष्य भी परोक्षप्रिय है या नहीं इस पर विवाद हो सकता है, प्रत्यक्षद्विष तो वह नहीं ही है। पर किसी भी कला-शेखर का कृतिकार प्रतीको का आकर्षण पहचाने या न पहचाने, उनका उपयोग अवश्य करना है। हम चाहे तो इससे यह भी परिणाम निकाल सकते हैं कि कलाकार क्या चाहे या न चाहे, कला हमें देवों के कुछ निश्चयित ले जानी है।

प्रतीक अनिवार्यतया अनेकार्थभूचक होते हैं। एक अर्थ दूसरे अर्थ या अर्थों के बदले नहीं आता—प्रतीक रूपक नहीं होने—एक-अधिक अर्थ साथ-साथ भलकते हैं। दोनों के बीच एक तनाव का सूत्र रहता है और अर्थ उसी की प्रणाली से बहता रहता है, कभी ऊपर अधिक, कभी उधर अधिक। अर्थ के जितने अधिक स्तर एक-साथ भलकें, प्रतीक उतना ही अधिक प्रभविष्णु होता है। पर स्तर बहुत-से हों या केवल कुछ-एक, आवश्यक यह है कि सारे अर्थ प्रतीक में ही होने चाहिए, प्रतीक में ही सम्पूर्ण होने और भलकने चाहिए। मिसक की भाँति प्रतीको में भी सामुग्य, साहचर्य और सादृश्य की एक स्वायत्ता, स्वयमिद, स्वयंप्रकाश व्यवस्था होनी चाहिए प्रतीक अपने-आप में एक भवन प्रमाण दुनिया होता है।

आदर्शकाल की परिवर्तना पश्चिम के लिए अत्यन्त बटिन रही है। नृत्य के क्षेत्र में यह स्वीकार करना है कि सभी प्राचीन महानियों में आदर्शन

और पुनरात्म के मिथक पाये जाते हैं और प्राचीन अथवा आदिम जातियों को कलाओं को प्रभावित भी करते हैं। पर यह मानने में उसे हिचक होती है कि यह परिकल्पना उसके लिए न ऐसी परायी है, न ऐसी दुर्बोध; बल्कि इस मिथक का संस्कार उसकी चेतना में इतना गहरा पैठा है कि इनके प्रतीक आज भी उसके दैनन्दिन जीवन के अभिन्न अंग हैं। यह ठीक है कि ऐतिहासिक काल के बोझ के नीचे बहुत अधिक दबे होने के कारण यह प्राचीनतर स्मृति उसके चेतन मन में कुछ धुँपली पड़ गयी है; फलतः कुछ 'अन्ध-विश्वास' उसके चिन्तन में अस्वीकार्य होकर व्यवहार में प्रभावी बने रह सकते हैं।

विवाह में प्रयुक्त जडाऊ छल्ला ले लीजिए - 'इडनिटी रिंग' में काल की अनन्तता उसके आवर्त्तन को मान कर ही तो चलती है। साधारण जीवन में प्रचलित दूसरे प्रतीक भी आवर्त्ती काल को मान कर चलते हैं। नैरन्तर्य अथवा अमरत्व का प्रतीक अपनी पूँछ को निगलता हुआ सर्प (चित्र १) :



चित्र १

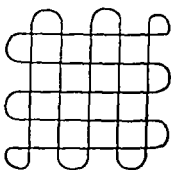
'आरम्भ' बन जाता है और काल-चक्र ही अमरत्व का चक्र बन जाता है। चिर-जीवन के और भी प्रतीक हैं, जैसे बिना छोर की ग्रन्थियाँ इनमें भी मूल परिकल्पना एक अन्तहीन रेखा की है—और जिस रेखा का कोई छोर नहीं है वह वृत्त ही होती है, भले ही उसके आवर्त्तन को कितनी भी सफाई से छिपाया या तोड़ा-भरोड़ा जाये (चित्र २ क, ख)। दूसरे शब्दों में

निरन्तरता, नैरन्तर्य, अमरत्व, सभी का मूल आधार वृत्त है। यह भी कहा जा सकता है कि वही बुद्धि, जो काल की चक्रगति मानने में हिचकती है, मगने लगती है कि सान्त आयामों से परे काल की गति युक्ताकार ही हो सकती है। सनातन इसके बिना नित्य हो ही नहीं मर्त्ता कि रेखा के दोनों छोर मिलें। इसीलिए गणितज्ञ को भी ऋजुरेखा की यह परिभाषा स्वीकार होगी कि यह 'अनन्त व्यास के वृत्त का खंड' है। गणित में भी असीम का प्रतीक एक अन्तहीन ग्रन्थि या दोहरा छल्ला ही है।

आधुनिक पश्चिमी जीवन के व्यवहार में एक और बन्तु भी हमारी परिचित है जिसका आकार इस चित्र से मिलता है। वह है वाणपरी (चित्र



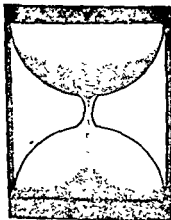
क



ख

चित्र २

३) जिसे हम निरन्तर उलटने-पलटने चमते हैं। काल की यह नाप, जिसमें प्रत्यावर्तन की गुजाइश है, प्रकाशान्तर से आवर्ती काल को स्वीकार करती हुई चलती है उसका आकार अगर गणित के चिह्न से मिलता-जुलता है तो क्या आश्चर्य !



चित्र ३

इस आकार पर थोड़ी देर अटकने का कारण था। पश्चिम से लौटकर हम अपने देश में इसी आकार की एक वस्तु पर आपका ध्यान केन्द्रित करना चाहते हैं—एक ऐसी वस्तु पर जो गहरा प्रतीकात्म्य रखती है। मदारी के हाथ में हमह देखकर आपको नहीं सूझा होगा कि यह कितना सार्वक प्रतीक है, पर नटराज मूर्ति के हाथ के हमर की (चित्र ४) काल-प्रतीक पहचानने में भी आप न चूके होंगे। लेकिन हमह मृष्टि का घोर ध्वनि विलय का प्रतीक क्यों,

जबकि हमने ठीक उलटा भी उलटने ही धीरग्य के साथ माना जा सकता था ; और जब 'काल-हमर' हमें मृत्यु की ही याद दिलाता है, जीवन की नहीं ? हमर नाद का—नाद ब्रह्म का—भी गहन दे सकता है और हमारे मृष्टि का प्रतीक हो सकता है ; पर यों तो नटराज की सम्पूर्ण प्रतिमा ही तत्पुनः



चित्र ४

स्वर का प्रतीक है...तब डमरु में क्या प्रतीक की प्रावृत्ति-भर हो रही है—  
नटराज-मूर्ति में क्या प्रतीकार्य की प्रावृत्ति का बलादोष पाया जावेगा ?

डमरु की मूल रेखावृत्ति एक दोहरे शंकु की है, या शीर्ष में शीर्ष जोड़ते हुए दो शंकुओं की (चित्र ५) ।

अपेक्षित पाठकों के लिए यहाँ येदस की पुस्तक ए बिशन के दोहरे शंकुओं का स्मरण कर लेना उपयोगी होगा ।

लेकिन येदस के घूर्णित शंकु (चित्र ६)

—“प्रत्येक की नोक दूसरे की आघात-रेखा के मध्य में टिकी हुई”—काल का सम्पूर्ण प्रतीक नहीं बनते, न येदस ने उन्हें ऐसा सिद्ध ही किया है । यह कहना भी कदाचित् सम्मत होगा कि असम्पूर्ण होने के नाते ये घूर्णित शंकु-युग्म किसी ज्ञान, स्वतः-प्रमाण अर्थ का सम्प्रेषण नहीं करते, अतः प्रतीकत्व को ही प्राप्त नहीं होते, केवल येदस के उत्तर पक्ष के एक पहलू का रेखाचित्रण करते हैं । येदस ने स्वयं इस भावृत्ति को अपने ‘भाषाओं’ का ‘मूल प्रतीक’ कहा है; उनके कथन की अर्थवत्ता यही तक हो सकती है कि वह एम्पेडॉक्लीज की उस वादी-विवादी उभयचारिता का प्रतीकात्मक रूपचित्रण है जिसकी व्याख्या येदस ने हेराक्लाइटस के सूत्र के सन्दर्भ में की है : “एक-दूसरे का जीवन भरते हैं, एक-दूसरे की मृत्यु जीते हुए ।”

किन्तु येदस के परस्पर नष्ट शंकुओं से डमरु की ओर लीटें । डमरु की टि, जहाँ से उसे पकड़ा जाता है, वह बिन्दु है जहाँ से उसकी जीभें निकलती और डमरु घुमाये जाने पर दोनों ओर आघात करती हैं । डमरु सृष्टि का प्रतीक है जिसे काल के आघात में सत्ता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है; कालजीवी सत्ता के प्रतीक के रूप में डमरु न केवल नटराज-मूर्ति के पूरे प्रतीकार्य की प्रावृत्ति नहीं करता बल्कि सार्वक रूप से उसका अंग बन जाता है ।

काल-प्रतीक के रूप में डमरु की बटि वर्तमान है—वर्तमान का क्षण—



नहीं करने, बरामान में करने हैं, बरामान के क्षण में करते हैं—इसकी बटि में करने हैं। बाप 'हमारी ओर आते हुए संकुचित होता' नहीं बनता; हमने दूर दूरों हुए विरतीमें होता बनता है। वृत्त आरम्भ नहीं है, दूरतम निष्पत्ति है। त्रिरोगमिति के तर्क से यह भी तत्काल समझ में आ जायेगा कि बटि में द्वार की अवधि दुगुनी, नेता की तिगुनी और वृत्त की चौगुनी क्यों है। क्योंकि हम बरामान के अत्यन्त लघु क्षण से आरम्भ करते हुए शंकु के आकार का विचार करें तो स्पष्ट देखेंगे कि हमारा आकार निरन्तर फैलते हुए वृत्त प्रस्तुत करता है, जबकि येदस के शंकु 'निरन्तर समेटते हुए वृत्त' बताते थे। युग जिनकी ही दूर बा है, उतना ही उसका काल-विस्तार अधिक है। चतुर्गुण के बाद हम फिर बिन्दु में आरम्भ करते हैं। कलि की अवधि को हम काल की द्वाइ मान लें, तो चतुर्गुण की माप १ क + २ + ३ क + ४ क = १० क होनी है, जिसके बाद हम पुनरावृत्ति की स्थिति १ पर आ जाते हैं और चक्र का नया आवर्तन शुरू हो जाता है। इस प्रकार शून्य (०) निरन्तर प्रपञ्च गणानन का द्वार बन जाता है, शून्य के वृत्त से सनातन आवर्तन का सिद्धान्त उद्भूत होता है—जिससे अधिक युक्तिमय और क्या बात होगी ?

येदस ने (या कि हम भी क्या उसका अनुसरण करते हुए कहें 'उसके आचार्यों' ने ?) प्रत्येक शंकु को १२ राशियों में बांटा है, और इस प्रकार वह '१२वें मंडल' की बात करता है। यह १२ की संख्या कैसे सिद्ध होती है ? उसके मानचित्र में, जिसमें प्रत्येक शंकु का शिखर दूसरे के आधार के मध्य में टिका है, पहले शंकु का बारहवाँ खंड दूसरे के पहले खंड से मिलता है, पहले का बारहवाँ दूसरे के दूसरे से, पहले का दसवाँ दूसरे के तीसरे से; इस प्रकार दोनों की संख्या का जोड़ हमेशा १२ होता है। अर्थात् यह १२वाँ मंडल बैसा

१. नटराज के साथ हम चतुर्भुज विष्णु का भी ध्यान कर सकते हैं। सूर्य के पर्याय विष्णु के चारों लक्ष्य भी काल के बिन्दु हैं। चक्र आवर्त्तकाल का द्योतन करता है। शल-वलय निरन्तर प्रसृत काल का प्रतीकत्व करता हुआ हमारे काल-प्रत्यय के एक और पहलू को सामने लाता है। शंकु की सतह पर घूमती हुई चेतना (अथवा येदस की परिकल्पना के घूर्णित शंकु पर सीधी बढ़ती हुई चेतना) शल-वलय ही बनायेगी। हम केन्द्र से आरम्भ करते हैं अतः हमारा शल-वलय प्रसारशील होगा, येदस परिधि से आरम्भ करता है अतः उसका शल-वलय संकुचनशील होगा। हमारा 'कालोद्घाटन-निरवधि;' येदस का 'टाइम मस्ट हैव ए स्टॉप'।

वास्तविक अस्मिन्-इ नो रचना जैसा कि अन्ध १२ मइनों का है, यह अविश्राम पुनरावृत्त मंडन या वृत्त कल्पनामय या अनुमानित ही रहता है। यह अन्त-मन्त्रा अथवा नैऋत्य का वृत्त है, दूसरे शब्दों में यह हमारी काल-गणना का मूल बिन्दु है—वह प्रतीक बिन्दु जो अन्त को आरम्भ में परिणत कर देता है।

अनेक काल-रम्य की आकृति की ओर लौट कर हम हमरू के उस कठि-बिन्दु पर खड़े हो जहाँ से हमारी चेतना अतीत अथवा भविष्यत् की ओर उन्मुख हो सके—परन्तु क्या वर्तमान के उम केवल रूप को या सकना सम्भव भी है ?

यह केवल क्षण, अत्यन्त वर्तमान, है क्या ? यदि काल-स्रोत अनिवार्यतया अतीत का अनुप्रवाही अथवा भविष्यत् का प्रतिप्रवाही है, यदि हमारी काल-चेतना अनिवार्यतया अभिमुख या प्रतिमुख है, यदि वह अनिवार्यतया स्मरण पर अथवा प्रतीक्षा पर आधारित है, तो उस केवल वर्तमान का बोध कैसे हो ? स्पष्ट है कि वर्तमान काल भूतकाल और भविष्यत्काल के बीच में है। तब अत्यन्त वर्तमान वह क्षण अथवा बिन्दु है जहाँ स्मृत काल और प्रतीक्षित काल का आत्यन्तिक सन्निध होना है वह क्षण जिसकी न स्मृति है न प्रतीक्षा अथवा वामना। कोई ऐसा क्षण पाया जा सके—ऐसे क्षण को कोई या सके, आत्म-चेतन होकर स्मृति और आकांक्षा से परे जो सके, तो वह ऐसा व्यक्ति हो जायेगा जिसकी छाया नहीं होनी—उसकी ऐसी शुद्ध काल-चेतना होगी कि वह काल-मुक्त हो जायेगी। क्योंकि जो अत्यन्त वर्तमान में, शुद्ध सत्ता में जी सकता है, उसके लिए दोनों शकु सिमट कर शीर्षबिन्दु में लय हो जायेंगे। सोच थम जायेगा, सत्ता रह जायेगी। डमरू केवल बिन्दु में लय हो जायेगा, शुद्ध नाद रह जायेगा। ऐसे जी सकने वाला कालजित् होगा, जीवन्मुक्त होगा उसे चिर-न्तन वर्तमान में



की नहीं है,

नहीं बनने।

1911 ई. ई. ई. ई. ई.

निक स्थिति है; फिर भी इतना वह स्वीकार करेगा कि इस प्रतिज्ञा के पक्ष करें तो उत्तर पक्ष अवश्य सिद्ध होता है—दूसरे शब्दों में वह प्रतीति अर्थवत्ता स्वीकार कर लेगा। बल्कि 'औरो आवर' के समवातीन मुहूर्तों के स्वीकृति निहित है : काल का ऋणात्मक (—) आयाम और कालात्मक (:) आयाम जहाँ मिलते हैं, जहाँ न 'आगमिष्यत्' की प्रतीति है न विपरीत स्मृति, वह निश्चय केवल क्षण ही तो शून्य का क्षण है : औरो टाइन, काल-डमरू का कटि-बिन्दु।

टी एस एलियट को ऐसे वर्तमान का यत्किन् आभास तो हुआ इसका संकेत उसकी उन पंक्तियों में मिलता है जिनमें वह चेतन होने को कहता है :

अतीत काल और भविष्यत् काल  
चेतना का थोड़ा ही अवकाश देते हैं।  
चेतन होना काल में जीना नहीं है।<sup>१</sup>

क्योंकि 'चेतन होना' सत्ता में जीना है। किन्तु चेतन होने को यो परम करते ही वह इस कालातीत अर्थ में चेतन होने की सम्भावना को भी देता है :

किन्तु काल में हो गुलाब बाड़ी का क्षण  
ठिठुरते गिरजाघर की धूमिल बेला का क्षण  
स्मरण किया जा सकता है, अतीत और भविष्यत् में गुँबाई  
काल के द्वारा ही काल को जोता जा सकता है।<sup>२</sup>

स्पष्ट है कि जब वह (मैंट ऑफ़िस्टीन द्वारा निर्धारित परिधि के कारण 'स्मरण किये गए क्षण' की बात करना है तब उसका सारा तर्क दूबिन हो ?

### 1 Time past and time future

Allow but a little consciousness

To be conscious is not to be in time

—टी एस एलियट, ४१५

### 2. But only in Time can the moment in the time-garden

The moment in the draughty church as smokefall

Be remembered, involved in past and future

Only through Time is Time conjoined

, क्योंकि स्मरण तो बात है—ध्वनि बात है—गाय बंधा है ही। बात व  
एक यदि स्मरण है तो स्मरण के द्वारा नहीं है (प्राकाशा के द्वारा भी न  
) , यह ध्वनि वर्तमान में एक आत्मवेदन ध्वनि के द्वारा हो सम्भव है  
तो स्मरण है कि 'गुणाव धारी वा धन' ऐसा एक धन रहा हो, किन्तु धन  
एक बंधा था तो उस धन में प्राप्त बात-विजय उगी धन की थी, उगी प्रत्य  
वर्तमान धन में विद्यमान वेदन के ध्वनिबोध की विजय थी। उस धन व  
'स्मरण' बिना जायेगा तो 'बात में' ही होगा, 'प्रतीक्षा' या 'प्राकाशा' व  
जायेगी तो वह भी 'बात में' ही होगी, पर उसको जिया गया 'सत्ता' में।  
जो निरुद्ध है, अनानुसृत है। अनिरुद्ध विजय की बात बरता है प्रतीत विजय व  
स्मृति स्वयं विजय नहीं हो सकती।

किन्तु क्या भारत में या भारतीय साहित्य में बात की इस परिकल्पना  
का प्रभाव परिलक्षित होता है? और अगर ऐसी परिकल्पनाएँ 'साहित्यिक  
गन्तार बातें दर्शनशास्त्र' का भग हो भी तो प्रश्न उठ सकता है कि क्या  
समकालीन भारतीय लेखन पर उनका कुछ भी असर है—क्या समकालीन  
लेखक उनमें परिचित भी है?

ऐसा तो नहीं कहा जा सकता—न उसकी कोई आवश्यकता होनी चाहिए  
—कि लेखक सचेत होकर ऐसे प्रतीकों को गढ़ता है अथवा परम्परा के सन्दर्भ  
में उनका अध्ययन-विवेचन करता है। यह भी आवश्यक नहीं है कि उसमें  
उपनिषदों अथवा गीता का पारायण करके जाना हो कि वहाँ कालजित् अथवा  
जीवन्मुक्त की क्या परिभाषा की गयी है। लेखन पर इस काल-दर्शन का प्रभाव  
होने के लिए इतना पर्याप्त है कि लेखक के संस्कार में उसका योग हो—और  
इतना दावा अवश्य किया जा सकता है। यो तो गीता और उपनिषद सीधे  
भी समकालीन परिवेश के भग हैं।

यह सम्भावना की जा सकती है कि धर्म-चेतना का ह्रास अनिवार्यतया  
जो निराशावाद पैदा करता है (क्योंकि सावधिकाल की गति एकोन्मुख है और  
मृत्यु की ओर है) उसका आशिक परिमार्जन दर्शन की 'साहित्यिक प्रवृत्ति' से  
हो सकता है—सौन्दर्यतत्त्व के चिन्तन से हो सकता है। आधुनिक काल की परि-  
कल्पना धार्मिक सन्दर्भ से रहित होकर भी बोधप्रद हो सकती है। पश्चिमी  
साहित्य के एक दार्शनिक विवेचक ने कहा है कि "आधुनिक काल की चर्चा प्रायः  
मिथकीय वस्तु के साथ की जाती है" : हमेशा तो ऐसा नहीं होता—बन-बन-  
कम भारत में तो नहीं, यद्यपि उस विवेचक का यह प्रस्ताव संस्थागत है  
कि "समकालीन साहित्य में जब मिथक का प्रयोग होता है तब अत्यन्त उगे





माधुनिज पारधाय गम्यता, जगमें मृत्यु को नकारने का इतना प्रबल भाव है, मान की कोई ऐसी व्यवधारणा न कर सके जगमें वह मृत्युन्मुख गति से ही इतर कुछ हो सकता है। कदाचित् इसका कारण यही हो कि मृत्यु का स्वीकार ही इसे गम्भिर बना देता है कि उसे हम एक पूषक् तरब मानकर एक धोर रग सकें, और हमारा सारा काल-चिन्तन उसकी गहरी छाया से प्रसित न हो जाये।

साँस का पुतला हूँ मैं :

जरा से बंधा हूँ और

भरण को दे दिया गया हूँ;

यह तो तथ्य है ही; इसे स्वीकार करके हम अलग रख दे सकते हैं। तभी तो हम मानव अस्ति के उस चिरन्तन वर्तमान में जी सकेंगे जिसमें जागना जीव-मुक्त होता है।

फिर मैं सपने से जाग गया।

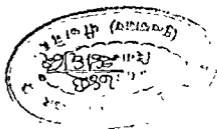
हाँ, जाग गया।

पर क्या यह जगा हुआ मैं

अब से युग-युग

उसी सन्धि रेखा पर बँसा

किरण-विद्ध हो बँधा रहेंगा ?



लेखक को अन्य निबन्ध रचनाएँ :

त्रिरात्रु (१९४५)

आत्मनेपद (१९९०)

हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य (१९६७)

मबरंग घोर कुछ राग (१९७०)

सम्पादित ग्रन्थ :

आधुनिक हिन्दी साहित्य (१९४२)

तार-सप्तक (१९४३)

दूसरा सप्तक (१९५१)

तीसरा सप्तक (१९५६)

पुष्करिणी (१९५६)

रूपाम्बरा (१९९०)